# बातें जिनमें सुगन्ध फूलोंकी

अहमद सलीम

*

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक—१८०

सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

BATEN JINMEN SUGANDH
PHOOLON KEE
[ Letters ]
AHAMAD SALEEM
BHARATIYA JNANPITH
PUBLICATION
First Edition 1963
Price Rs. 3.00

o

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
विक्रय केन्द्र
३६२०।२१नेताजी सुभाषमार्ग,दिल्ली-६
प्रकाशन केन्द्र
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५
मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी-५
प्रथम संस्करण १९६३
मूल्य तीन रुपये

आदरणीय भाई
अयोध्याप्रसाद गोयलीयको —
जिनके शुरू किये हुए कामोंको
आगे बढ़ानेका प्रयास
यह पुस्तक है !

—अहमद सलीम

## इसके बारेमें

○

बात अबसे डेढ़-दो बरस पहलेकी है। उर्दू प्रणयगाथाओंकी खोज करते मेरे हाथ अचानक वाजिदअली शाह 'अख़्तर'के कुछ प्रेमपत्र लगे। इन पत्रोंको देखा तो मैं आपा भूला-सा इन्हींमें खो रहा। फिर तो प्रणय-गाथाओंको वहाँका वहीं छोड़ मैंने इन्हें लेकर एक लेख तक लिख मारा।

लेख 'ज्ञानोदय' में आया, और उस वक़्त मेरा ख़याल था कि इसी तरहके चन्द और लेख लिखकर यह सिलसिला ख़त्म कर सकूँगा। मगर क्या जानता था मैं कि वह लेख और उसके बादके वे चन्द लेख इतने पसन्द किये जायेंगे और 'ज्ञानोदय' से बराबर ऐसा इसरार होगा कि वह सिलसिला चलता ही चला जायेगा!

बहरहाल, कुछ चुने-चुने उन चन्द लेखोंमें-से और कुछ बादके, ताज़ा, अब इस शक्लमें आपके सामने हैं। इसके अलावा क्या और इसके बारेमें कहूँ!

७ जून, १९६२। —*अहमद सलीम*

मिरज़ा ग़ालिब

# ग़ालिब

ज़िन्दा रहनेके लिए और ख़त लिखनेके लिए जीवनका आदर और सम्मान ज़रूरी है। जीवनसे मेरा मतलब है ऊँची-नीची सड़कें, छोटी-बड़ी दूकानें, जेठकी धूप, बरसातकी अँधेरी मचल जानेवाली रातें, गुलाबी जाड़ोंमें नज़रें बचा-बचाकर मुसकरानेवाले फूल, मुरझाये हुए चेहरे, पुरानी चीज़ोंका नयापन, सादगीमें बनावट, नेकियोंमें छिपी हुई कमज़ोरियाँ, अहंकारकी तहमें नम्रता, आल्हा-ऊदल, ज्ञान-विज्ञान और भी बहुत कुछ — और इस बहुत कुछकी व्याख्या 'ग़ालिब' के पत्रोंमें ही देखते चलें :

> "....मीर मेहदी ! सुबहका वक़्त है, जाड़ा ख़ूब पड़ रहा है, अँगीठी सामने रखी है। दो हरूफ़ लिखता हूँ, हाथ तापता जा रहा हूँ। आगमें गरमी सही मगर हाय वह पिघली हुई आग कहाँ कि जब दो प्याले पी लिये फ़ौरन रगो-पै[1] में दौड़ गयी। दिल तवाना[2] हो गया, दिमाग़ रौशन हो गया।"

> "....हर रोज़ सुबहको हामिद अली ख़ाँकी मसजिदमें जाकर क़ुरआन सुनता हूँ। कभी जो जीमें आता है शामके वक़्त 'महताब बाग़' में जाकर रोज़ा खोलता हूँ।"

*— मीर मेहदी 'मजरूह' के नाम*

---

१. रक्त-संचार, २. मज़बूत।

"भाई, मुग़ल बच्चे ग़ज़ब होते हैं। जिसपर मरते हैं उसे मार रखते हैं। मैं भी मुग़ल बच्चा हूँ, उम्र-भरमें एक बड़ी सितमपेशा डोमनीको मैंने भी मार रखा है। ख़ुदा उन दोनोंको बख़्शे और हम-तुम दोनोंको भी कि ज़ख़्मे-मर्गे-दोस्त[1] खाये हुए हैं, मग़फ़िरत करे[2]! चालीस-बयालीस बरसका यह वाक़्या है — यह कूचा छुट गया, इस फ़न[3] में बेगानए-महज़ हो गया, लेकिन अब भी कभी-कभी वह अदाएँ याद आती हैं। इसका मज़ा ज़िन्दगी-भर न भूलूँगा। जानता हूँ कि तुम्हारे दिलपर क्या गुज़रती होगी, सब्र करो और अब हंगामा साज़ी-ए-इश्क़ मजाज़ी[4] छोड़ो····

"तुम्हारा हुलिया देखकर तुम्हारे कशीदा क़ामत[5] होनेपर मुझे रश्क न आया, किस वास्ते कि मेरा क़द भी दराज़ीमें अंगुश्त-नुमा है[6]। तुम्हारे गन्दमी रंगपर रश्क न आया, किस वास्ते कि जब मैं जीता था तो मेरा रंग चम्पई था और दीदा-वर[7] लोग उसकी सताइश[8] किया करते थे। अब जो कभी मुझको वह अपना रंग याद आता है तो छातीपर साँप-सा फिर जाता है। हाँ मुझको रश्क आया और मैंने ख़ूने-जिगर खाया तो इस कल्मेपर कि दाढ़ी ख़ूब घुटी हुई है, वह मज़े याद आ गये, क्या कहूँ जीपर क्या गुज़री····जब दाढ़ी-मूँछमें सफ़ेद बाल आ गये, तीसरे दिन चींटीके अण्डे गालोंपर नज़र आने लगे। इससे बढ़कर यह हुआ कि आगेके दो दाँत टूट गये। नाचार मिस्सी भी छोड़

---

१. दोस्तके मरनेका घाव, २. मुक्ति दे, ३. कला, ४. यह कल्पित प्रेम, ५. डीलडौल, ६. उँगली दिखानेकी मौक़ा देनेवाला, ७. आँखवाले, ८. सराहना।

दी और दाढ़ी भी····"

*— मिर्ज़ा हातिम अली मेहरके नाम*

"मैं जब बहिश्तका तसव्वर[1] करता हूँ और सोचता हूँ कि अगर मग़फ़िरत हो गयी और एक क़स्र[2] मिला और एक हूर[3] मिली—अक़ामत जाविदानी[4] है और उसी नेक-बख़्तके साथ ज़िन्दगानी है। इस तसव्वरसे जी घबराता है और कलेजा मुँहको आता है। है है ! वह हूर अजीरन हो जायेगी। तबीयत क्यों न घबरायेगी ! वह ज़मुर्रदीं काख़ और वही तूबाकी एक शाख़—चश्मे-बद्दूर वही एक हूर ! भाई होशमें आओ, कहीं और दिल लगाओ····"

*— मीर मेहदी 'मजरूह'के नाम*

"मेरा हाल पूछनेवाले दिल्लीवालो सलाम लो ! चितली क़ब्रकी तरफ़ सीढ़ियोंपर कबाबियोंने दूकानें बना लीं। अण्डा मुर्ग़ी कबूतर बिकने लगा। सात नवम्बर जुमे-के दिन बहादुरशाह 'ज़फ़र' फ़रंगियोंकी क़ैद और जिस्मकी क़ैदसे छूट गये – हमारे पास शराब आजकी और है कलसे रातको निरी अँगीठीपर गुज़ारा है। धूपमें बैठा हूँ। लाला हीरा सिंह और यूसुफ़ अली ख़ाँ बैठे हैं। खाना तैयार है। एक दालानमें धूप आती है उसमें बैठूँगा, हाथ-मुँह धोऊँगा, एक रोटीका टुकड़ा सालनमें भिगाकर खाऊँगा। बेसनसे हाथ धोऊँगा। बाहर आऊँगा। फिर उसके बाद ख़ुदा जाने कौन आयेगा, क्या सुहबत होगी····।"

*— मीर मेहदी 'मजरूह' के नाम*

---

१. कल्पना, २. महल, ३. जन्नतकी परी, ४. जीवन अनन्त।

ख़त इन्हीं छोटी-छोटी बातोंसे बुने जाते हैं। छोटी-छोटी बातोंमें ही जीवनका आनन्द है। जीवनमें क्षण बहुत मूल्यवान् होते हैं। इन क्षणोंको ज़िन्दगीके दामनसे चुरा लेना, बचा रखना और अपने दोस्तोंमें बाँट देना ही उत्तम कार्य है, यही रचना है और इसीमें मुक्ति भी :

"सैयद साहब! अच्छा ढकोसला निकाला है जो बाद अत्क़ाबके शिक्वा शुरू कर दिया है। बरसातका नाम आ गया है तो सुन लो कि एक हंगामा गोरोंका, एक फ़ित्ना[1] घरोंके गिरनेका, एक आफ़त वबाकी, एक मुसीबत कालकी तो थी ही उसपर यह बरसात! आज इक्कीसवाँ दिन है, सूरज इस तरह नज़र आ जाता है जिस तरह बिजली चमक जाती है। रातको कभी-कभी अगर तारे दिखाई देते हैं तो लोग उनको जुगनू समझ लेते हैं। अँधेरी रातोंमें चोरोंकी बन आयी है। कोई दिन नहीं कि दो-चार घरोंकी चोरीका हाल न सुना जाये। मुबालग़ा[2] न समझना, हज़ारहा घर गिर गये, गली-गली नदी बह रही है। क़िस्सा मुख़्तसर — वह अन्न-काल था कि मेंह न बरसा, अनाज न पैदा हुआ; यह पन-काल है, पानी ऐसा बरसा कि बोये हुए दाने बह गये।

"बन्दा परवर! पहले तुमको यह लिखा जाता है कि मेरे पुराने दोस्त मीर मुकर्रम हुसैन साहबको ख़िदमतमें मेरा सलाम कहना और यह कहना कि अबतक जीता हूँ और इससे ज़्यादा मेरा हाल मुझको भी मालूम नहीं। तुम्हारे पहले ख़तका जवाब भेज चुका था कि उसके दो दिन या

---

१. ग़ज़ब, २. अत्युक्ति।

तीन दिनके बाद दूसरा ख़त पहुँचा। सुनो साहब! जिस शख़्सको जिस शुग़ल[1] का ज़ौक़[2] हो वह उसमें बेतकल्लुफ़ उम्र बसर करे इसका नाम ऐश है। और भाई, यह जो तुम्हारी सुख़न-गुस्तरी[3] है इसकी शुहरतमें मेरी भी तो नाम आवरी है। मेरा हाल अब इस फ़नमें यह है कि शेर कहने-की रविश और अगले कहे हुए अशआर-सब भूल गया। मगर हाँ अपने हिन्दी कलाममें-से डेढ़ शेर याद रह गया है, सो गाह-गाह जब दिल उचटने लगता है तब दस-पाँच बार यह मक़्ता ज़बानपर आ जाता है:

ज़िन्दगी अपनी जब इस शक्ल से गुज़री 'गालिब'
हम भी क्या याद करेंगे कि ख़ुदा रखते थे।

फिर जब सख़्त घबराता हूँ और तंग आता हूँ तो यह मिसरा पढ़कर चुप हो जाता हूँ:

ऐ मर्गे-नागहाँ तुझे क्या इन्तिज़ार है।"

*— हरगोपाल 'तुफ़्ता'के नाम*

ग़ालिबसे पहले शायद लोग ज़िन्दगीको दूरसे देखनेके आदी थे। उन्होंने ज़िन्दगीको झेलकर न देखा था। क़तरेसे गुहर होने तक जो कुछ गुज़री वह ग़ालिबकी शाइरी है और वही उसके ख़तोंका विषय भी। कहा जाता है ख़त लिखनेके लिए काग़ज़ और क़लमकी ज़रूरत है। किन्तु काग़ज़ और क़लम, केवल काग़ज़ और क़लम ही तो नहीं, उनमें हृदयका रक्त भी तो मिला है।

"यूसुफ़ मिरज़ा! क्योंकर तुझको लिखूँ कि तेरा बाप मर गया। और अगर लिखूँ तो क्या-क्या लिखूँ कि अब

---

१. दिलचस्पी, २. रुचि, ३. काव्यचर्चा।

क्या करो — मगर, सब्र !....ताज़ियत[1] यों ही किया करते हैं, और यही कहा करते हैं कि सब्र करो। हाय एकका कलेजा कट गया और लोग उसे कहते हैं कि तू न तड़प। भला क्योंकर न तड़पेगा। सलाह इस बातमें मानी नहीं जाती, दुआको दख़ल नहीं। पहले बेटा मरा फिर बाप मरा। अगर कोई पूछे कि बेसरो-पा[2] किसको कहते हैं तो मैं कहूँगा यूसुफ़ मिर्ज़ाको। तुम्हारी दादी लिखती हैं कि [3]रिहाईका हुक्म हो चुका था। अगर यह बात सच है तो, जवाँ मर्ग[4] एक ही बार दोनों क़ैदोंसे छूट गया — "न क़ैदे हस्ती न क़ैदे फ़रंग[5]।"

— *यूसुफ़ मिर्ज़ाके नाम*

ग़ालिब उर्दू पत्रकारीका बाबा-आदम समझा जाता है। 'हाली'ने १८५० को इस कलाका प्रारम्भिक वर्ष माना है। ग़ालिबने फ़ारसी छोड़कर उर्दूमें पत्र लिखनेको एक मजबूरीके तौरपर ही अपनाया था, जब उन्हें मुग़लोंका इतिहास लिखनेका काम सौंपा गया और उनके पास समयकी कमी हो गयी। यह वह ज़माना था जब गिलक्रिस्टकी देख-रेखमें फ़ोर्ट विलियम कॉलेजके लेखकोंकी चीज़ें सामने आने लगी थीं। शाह अब्दुल क़ादिर और शाह रफ़ीउद्दीन क़ुरआनके अनुवाद उर्दूमें कर चुके थे। सैयद इस्माईल शहीदकी किताब 'तक़वियतुलईमान' प्रकाशित हो चुकी थी और सैयद अहमद शहीद बरेलवीके माननेवाले प्रचारके लिए उर्दूको ही काममें ला रहे थे। फिर भी ग़ालिब, फ़ारसीके मुक़ाबिलेमें उर्दूको हीन समझे बैठे थे और साथ ही अपने उर्दूमें लिखे पत्रोंको भी।

---

१. मरनेवालेके प्रति उसके सम्बन्धियों-द्वारा शोक, २. बिना सिर-पैरका असहाय, ३. मुक्ति, ४. जवान मौत, ५. न जीवनकी क़ैद न अँगरेज़की।

इसीलिए जब इन पत्रोंको प्रकाशित करनेकी बात आयी तो ग़ालिबने मुन्शी शिवनारायणको लिखा था कि :

"इसकी शुहरत मेरी सुख़न-वरीके मनाफ़ी है।"

और हरगोपाल 'तुफ़्ता' को ये कि :

"इनके छापनेमें मेरी ख़ुशी नहीं है, बच्चोंकी-सी ज़िद न करो।"

पर इसे क्या कहा जाये कि जब यही पत्र छपकर सामने आये तो इससे ग़ालिबकी सुख़न-वरीपर कोई आँच तो क्या आती, उस महान् कलाकारका वह जीवन भी इन पत्रोंके उजालेमें निखरकर सामने आ गया जो अबतक उसकी शाइरीकी तहोंमें दबा पड़ा था :

"......यहाँ ख़ुदासे भी तवक़्क़ो[1] बाक़ी नहीं, मख़्लूक़[2]-का क्या ज़िक्र, कुछ बन नहीं आती। आप अपना तमाशाई बन गया हूँ। रंज और ज़िल्लतसे ख़ुश होता हूँ। यानी मैंने अपने-आपको ग़ैर समझ लिया है। जो दुःख मुझे पहुँचता है, कहता हूँ ग़ालिबके एक और जूती लगी। बहुत इतराता था कि मैं बड़ा शाइर और फ़ारसीदाँ हूँ; आज दूर-दूर तक मेरा जवाब नहीं। ले अब तो क़रज़दारों-को जवाब दे। सच तो ये है कि ग़ालिब क्या मरा, बड़ा मुलहिद[3] मरा, बड़ा काफ़िर मरा। हम ताज़ीम[4]की ख़ातिर, जैसे बादशाहोंको उनके मरनेके बाद जन्नत आराम-गाह और अर्श नशींका ख़िताब देते हैं। और ये भी अपने-आपको क़लमका बादशाह जानता था; तो इसने भी अपने लिए तरह-तरहके ख़िताब रख छोड़े हैं। सो, आइए नजमुद्दौला बहादुर, एक क़रज़दारका गरेबाँमें हाथ, एक

---

१. आशा, २. मानव जाति, आदमी, ३. अधर्मी, ४. आदर-सत्कार।

क्या करो — मगर, सब्र !....ताज़ियत[1] यों ही किया करते हैं, और यही कहा करते हैं कि सब्र करो। हाय एकका कलेजा कट गया और लोग उसे कहते हैं कि तू न तड़प। भला क्योंकर न तड़पेगा। सलाह इस बातमें मानी नहीं जाती, दुआको दख़ल नहीं। पहले बेटा मरा फिर बाप मरा। अगर कोई पूछे कि बेसरो-पा[2] किसको कहते हैं तो मैं कहूँगा यूसुफ़ मिर्ज़ाको। तुम्हारी दादी लिखती हैं कि [3]रिहाईका हुक्म हो चुका था। अगर यह बात सच है तो, जवाँ मर्ग[4] एक ही बार दोनों क़ैदोंसे छूट गया — "न क़ैदे हस्ती न क़ैदे फ़रंग[5]।"

*— यूसुफ़ मिर्ज़ाके नाम*

ग़ालिब उर्दू पत्रकारीका बाबा-आदम समझा जाता है। 'हाली'ने १८५० को इस कलाका प्रारम्भिक वर्ष माना है। ग़ालिबने फ़ारसी छोड़कर उर्दूमें पत्र लिखनेको एक मजबूरीके तौरपर ही अपनाया था, जब उन्हें मुग़लोंका इतिहास लिखनेका काम सौंपा गया और उनके पास समयकी कमी हो गयी। यह वह ज़माना था जब गिलक्रिस्टकी देख-रेखमें फ़ोर्ट विलियम कॉलेजके लेखकोंकी चीज़ें सामने आने लगी थीं। शाह अब्दुल क़ादिर और शाह रफ़ीउद्दीन क़ुरआनके अनुवाद उर्दूमें कर चुके थे। सैयद इस्माईल शहीदकी किताब 'तक़वियतुलईमान' प्रकाशित हो चुकी थी और सैयद अहमद शहीद बरेलवीके माननेवाले प्रचारके लिए उर्दूको ही काममें ला रहे थे। फिर भी ग़ालिब, फ़ारसीके मुक़ाबिलेमें उर्दूको हीन समझे बैठे थे और साथ ही अपने उर्दूमें लिखे पत्रोंको भी।

---

१. मरनेवालेके प्रति उसके सम्बन्धियों-द्वारा शोक, २. बिना सिर-पैरका असहाय, ३. मुक्ति, ४. जवान मौत, ५. न जीवनकी क़ैद न अँगरेज़की।

इसीलिए जब इन पत्रोंको प्रकाशित करनेकी बात आयी तो ग़ालिबने मुन्शी शिवनारायणको लिखा था कि :

"इसकी शुहरत मेरी सुख़न-वरीके मनाफ़ी है।"

और हरगोपाल 'तुफ़्ता' को ये कि :

"इनके छापनेमें मेरी ख़ुशी नहीं है, बच्चोंकी-सी ज़िद न करो।"

पर इसे क्या कहा जाये कि जब यही पत्र छपकर सामने आये तो इससे ग़ालिबकी सुख़न-वरीपर कोई आँच तो क्या आती, उस महान् कलाकारका वह जीवन भी इन पत्रोंके उजालेमें निखरकर सामने आ गया जो अबतक उसकी शाइरीकी तहोंमें दबा पड़ा था :

"......यहाँ ख़ुदासे भी तवक़्क़ो[1] बाक़ी नहीं, मख़्लूक़[2]-का क्या ज़िक्र, कुछ बन नहीं आती। आप अपना तमाशाई बन गया हूँ। रंज और लानतसे ख़ुश होता हूँ। यानी मैंने अपने-आपको ग़ैर समझ लिया है। जो दुःख मुझे पहुँचता है, कहता हूँ ग़ालिबके एक और जूती लगी। बहुत इतराता था कि मैं बड़ा शाइर और फ़ारसीदाँ हूँ; आज दूर-दूर तक मेरा जवाब नहीं। ले अब तो क़रज़दारों-को जवाब दे। सच तो ये है कि ग़ालिब क्या मरा, बड़ा मुलहिद[3] मरा, बड़ा काफ़िर मरा। हम ताज़ीम[4] की ख़ातिर, जैसे बादशाहोंको उनके मरनेके बाद जन्नत आराम-गाह और अर्श नशींका ख़िताब देते हैं। और ये भी अपने-आपको क़लमका बादशाह जानता था; तो इसने भी अपने लिए तरह-तरहके ख़िताब रख छोड़े हैं। लो, आइए नजमुद्दौला बहादुर, एक क़रज़दारका गरेबाँमें हाथ, एक

---

१. आशा, २. मानव जाति, आदमी, ३. अधर्मी, ४. आदर-सत्कार।

क़रज़दार भोग सुना रहा है। मैं इनसे पूछ रहा हूँ, अजी हज़रत नवाब साहब, ये क्या बेइज़्ज़ती हो रही है; कुछ तो उकसो, कुछ तो बोलो—। बोले क्या बेहया, बेग़ैरत। काठीसे शराब, गन्धीसे गुलाब, बज़्ज़ाज़से कपड़ा, मेवा-फ़रोशसे आम, सर्राफ़से दाम क़र्ज़ लिये जाता है; ये भी तो सोचा होता कहाँसे दूँगा।"

*—हरगोपाल 'तुफ़्ता'के नाम*

"मिर्ज़ा तुफ़्ता ! जो कुछ तुमने लिखा यह बेदर्दी है और बदगुमानी। तुमसे और आज़ुर्दगी ? मुझको इसपर नाज़ है कि मैं हिन्दुस्तानमें एक दोस्त सादिक़ुलवरा रखता हूँ जिसका हरगोपाल नाम और 'तुफ़्ता' तख़ल्लुस है। तुम ऐसी कौन-सी बात लिखोगे कि मुझको मलाल हो। रहा ग़म्माज़का कहना तो उसका हाल यह है कि मेरा हक़ीक़ी भाई कुल एक था वह तीस बरस दीवाना रहकर मर गया। वह जीता होता आर तुम्हारी बुराई करता तो मैं उसको झिड़क देता और उससे आज़ुर्दा होता। भाई मुझमें अब कुछ बाक़ी नहीं है। बरसातकी मुसीबत गुज़र गयी लेकिन बुढ़ापेकी शिद्दत बढ़ गयी...."

*—हरगोपाल 'तुफ़्ता' के नाम*

अच्छा जीवन व्यतीत करना एक कला है और ग़ालिबके हाथों तो खत लिखना भी एक कला बन गयी है :

"ऐ मीर मेहदी ! तुझे शर्म नहीं आती ! मियाँ यह अहले-दिल्लीकी ज़बान है ! तू किसकी ज़बानकी तारीफ़ करता है। अल्ला-अल्ला दिल्लीवाले अबतक यहाँकी

ज़बानको अच्छा कहे जा रहे हैं, वाह रे हुस्ने एतिक़ाद ! अरे बन्दे ख़ुदा, उर्दू बाज़ार न रहा, उर्दू कहाँ दिल्ली कहाँ ! वल्ला अब शहर नहीं कैम्प है छावनी है, न क़िला न शहर न बाज़ार न नहर—जामा मसजिदसे राजघाट दरवाज़े तक लक़-दक़ सहरा है। ईंटोंका जो ढेर पड़ा है वह अगर उठ जाये तो हूका मकान हो जाये। कश्मीरी दरवाज़ेका हाल तुम देख चुके अब आहिनी सड़कके वास्त कलकत्ते दरवाज़े तक मैदान हो गया। पंजाबी कटरा, धोबी वाड़ा, रामजी गंज, सआदत ख़ाँका कटरा, रामजी दास गोदामवालेके मकानात, साहब रामका बाग़ हवेली इनमें-से किसीका पता नहीं मिलता। क़िस्सा मुख़्तसर शहर सहरा[1] हो गया।"

— *मजरूहके नाम*

१. वीरान।

# वाजिद अली शाह 'अख़्तर'

औरंगज़ेबने दक्खिनके दूर-दराज़ इलाक़ोंसे उभरती हुई शक्तियोंको कुचलनेमें इतना ज़ोर लगा दिया कि जब उसकी मृत्यु हुई तो मुग़ल राज्यकी साँस भी उखड़ने लगी। शाही ख़ानदानमें राजके कई दावेदार पैदा हुए और ख़ानाजंगियों और षड्यन्त्रोंका एक तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। अमीरों और सरदारोंने ताज सिरपर धरा तो ज़रूर लेकिन यह मन्सब उन्हें बहुत मँहगा पड़ा और इस सिरकी बला आँखोंपर यों आयी कि उनके सिर क़लम होनेके साथ उनकी आँखें भी निकाली गयीं। जब बादशाह अपने सरदारोंके हाथोंमें कठपुतली हों तो इसके सिवा उनसे और क्या आशा की जा सकती थी कि वह राजके कामोंकी ओरसे आँखें चुराकर रंगरेलियोंमें डूब जायें। बादशाहोंकी कमज़ोरी, उनके आपसके झगड़े और दरबारके ख़ूनी इनक़िलाबने जब मुग़ल राज्यके पतनका एलान कर दिया तो देशमें जो शक्तियाँ अबतक दबी हुई थीं विद्रोह मचानेपर तुल गयीं। रोहीलों, मरहठों, सिखों और जाटोंकी स्वतन्त्रताके प्रदर्शन आरम्भ हुए। यह रंग देखकर सल्तनतके वह सूबे भी जो क़ानूनन बादशाह देहलीके अधीन थे वास्तवमें ख़ुद-मुख़्तार बनने लगे। दिल्लीके बादशाह शतरंजके शाह तो बहुत पहलेसे हो गये थे, अँगरेज़ोंके अधिकार सँभालते ही और भी नाकारा हो गये तो अधिकतर प्रान्त स्वतन्त्र राज्यमें बदल गये।

१८वीं शतीकी इस राजनीतिक अस्तव्यस्तताका कारण जो भी रहा हो, उसकी कोखसे जो अर्धस्वाधीन प्रान्त और फिर बादमें स्वतन्त्र राज्यने जन्म लिया, उनमें एक अवध भी था।

वाजिद अली शाह 'अख़्तर'

और इसी अवधके आखिरी ताजदार वाजिद अली शाह 'अख़्तर' थे। और 'अख़्तर' जो शाइर बनकर ग़ज़लें, सलाम, रुबाइयाँ और ठुमरियाँ लिखते रहे, रंगीन मिज़ाज शहज़ादा बनकर मीनाबाज़ार सजवाते रहे, हुज़ूर बाग़में सावनके महीनोंमें जोगी और जोगनके जलसे कराते जहाँ जोगनोंके बीच स्वयं जोगी बनकर "ना कर साँवलासे यारी जोगन भई रे" जैसे गीत सुनते रहे; क़ैसर बाग़ ही नहीं, लखनऊके मंचपर रासलीला रचाते रहे।

और फिर यही 'अख़्तर' जो 'जाने आलम पिया' भी थे, जब तख़्तसे हटाये गये और मटिया बुरुजमें जलावतन कर दिये गये तो अपनी चहेती अकलील बेगमके नाम पत्र लिखकर कल्पनाके सहारे इन्हीं रंगीन महफ़िलों-को सजाते रहे :

> "ए बिलक़ीस, ए रश्के बिरजीस ! बड़ी देरसे हम आये हैं। झाड़ कँवल तुम्हारे लिए सिकन्दर बाग़में सजवाये हैं। साहब तुम कहाँ थीं, न यहाँ थीं न वहाँ थीं। ख़ुदाके वास्ते सच बताओ। ज़रा हाथ तो इधर लाओ, मेरा दिल देखना कैसा धड़कता है। लो फिर अब मैं सवार हो जाऊँ। तुम्हारे वास्ते भी गाड़ी चौकड़ी तैयार करवा मँगवाऊँ। कोचवानोंकी आँखोंपर पट्टियाँ बँधवा दूँ। जवानाने-चमन फिर रहे हैं, कोई क़िस्सा पढ़कर उन्हें भी खिसका दूँ। आबे-शबनमसे बर्गो-दरख़्ताँ धो जायें, मलिका सलामत अब हमारे-तुम्हारे वस्लके मौक़े हो जायें। हमाम सिकन्दर बाग़ तैयार है, हुक्म दीजिए तो ख़ज़ानेका पानी हौज़की तहमें भी ख़ज़ाना बालाख़ाना खुलवा दूँ। आबशारोंको अपने हाले-ज़ारपर रुलवा दूँ...."

और उन महफ़िलोंको याद करके आँसू बहाते रहे :

> "हाय अफ़सोस, हाय अफ़सोस ! कैसे-कैसे जलसे

दिन-रात रहते थे! हमारे-तुम्हारे दुश्मन कभी यों रंजे-फ़िराक़ काहेको सहते थे! आह; किसकी नज़र बद लग गयी जो सैयादको बुलबुलोंसे कद लग गयी। शिकवा बेजा है, तक़दीरका लिखा है। दिलमें चोट लगती है इस मज़मून-से क़लम फिराया चाहिए...."

किन्तु क़लमको क्योंकर फिराया जाये कि विरहकी घड़ियाँ व्याकुल किये दे रही हैं। जलावतनीकी चुभन कलेजेके पार हुई जा रही है। और आप जानें कि ऐसेमें याद कर लेना और रो लेना भी तो गोया बड़ा सहारा है:

"शबो रोज़ तसव्वुर रहता है कि यह मुसीबतके दिन किस तरह बसर होंगे। क्या कहूँ वह तुम्हारा सिकन्दर बाग़-का रहना और हमारा परवानावार गाड़ीपर दिन-दिन-भर तुम्हारे साथ फिरना और फिर डोमनियोंका मुजरा करना और रातोंको चबूत्रीपर बसर करना और नौबतकी सदाएँ और शहनाईकी आवाज़ें, यह सब रात-दिन आँखोंके तले फिरता है। दिल मसोस-मसोस कर रह जाता हूँ। क्या करूँ ज़मीन सख्त आसमान दूर है। मेरा क्या क़ुसूर है? ख़ुदा ग़ारत करे उन लोगोंको जिन्होंने ख़ानाबरबादी हमारी की। और आप ख़ुश-ख़ुश हुक्मरानी करते हैं और उनके हवाख़ाह उनके हमराह उनका दम भरते हैं। हमें तो आज तक फ़लकने ऐसा पीसा है कि मग़ज़का भेजा नाख़ूनसे निकलता है। घने-घने जंगल, काले-काले पहाड़, न कहीं साया न कहीं आड़! ख़ुदा-ख़ुदा करके कलकत्ते पहुँचे। उस-पर भी मुद्दई दीवारके सायेकी तरह साथ हैं। काट-फाँससे ज़रा भी नहीं चूकते। ख़ुदा अंजाम बख़ैर करे, जलावतनीके साथ-साथ ग़रीबीने और भी ज़िन्दगी दोभर कर दी...."

ज़िन्दगी तो वास्तवमें दोभर हो रही होगी। ज़रा आप भी तो कल्पना कीजिए :

> "इसको तसव्वुर करो कि जो उस ऐशो-आराम और जाहो-हश्मतसे बसर करता हो या वह अब आसमानकी गरदिशसे कोठी राजा बर्दवानमें मुसीबतके दिन भरता हो।"

> "और क्या हाल अपनी मुसीबतका लिखूँ कि बराबर लिखते शर्म आती है। कहाँ तो वह सामान था कि जिसका छोटा-सा समाँ तुमने लिखा है और कहाँ हम अब वही हैं कि ख़ुद अपने हाथ अपना काम करते हैं, घड़ियों आदमियों-को पुकारा करते हैं। ख़ैर शुक्र है! बहर-हाल वह ख़ालिक़ है जो उसकी मरज़ी! क्या अजब है कि फिर हम बैसे हो जायें और अब दिन भले आयें! अल्लाह रहम जल्द करे कि अब ताबे-तबीयत बाक़ी नहीं...."

ताबे-तबीयत बाक़ी रहे न रहे, हक़ीक़तसे छुटकारा कहाँ? ग़ज़ब हुआ जो प्रेमिकाने अपने पास बुला लेनेकी कामना की।

> "और जो तुमने यह लिखा कि न मैं लखनऊमें रहूँगी न कलकत्तेमें, मुझे अपने पास क़िलेके अन्दर बुला लो, जाने मन, सुब्हान अल्लाह, शरीफ़ और नजीबोंकी यही बात होती है कि बुरे वक़्तमें शौहरके काम आती हैं। मगर मैं तो यहाँ रात-दिन सैकड़ों पहरोंमें गिरफ़्तार हूँ। हर वक़्त पहरे बराबर रहते हैं, परिन्दा पर नहीं मार सकता। फिर भला तुम्हारी परदादारी किस तरह करूँगा....एक नयी ग़ज़ल तुम्हारे दिलके बहलनेको कही है, जब तबीयत घबराया करे इसे पढ़कर हमारी याद किया करो और जी बहलाया करो...."

किन्तु स्वयं अपना दिल बहलता नज़र नहीं आता :

"हम दास्ताने-इश्तियाक़को क्या लिखें। यह कहो कि फ़िराक़में कबतक दुखें। सच कहना तुम्हारा क्या हाल है — देखो झूठ न कहना जादए-उलफ़तमें साबित क़दम रहना। ख़ुदाकी क़सम बहुत बेताब हूँ...."

"रजबकी बाईसवींको एक क़ता मुहब्बतनामा आया, कलेजेसे लगाया। तुम झूठी हो जो लिखती हो कि मैं मुत्वातिर ख़त भेजती हूँ। कल इस समेत तीन क़ता तुम्हारे आये। और लोगोंके तीस-तीस चालीस-चालीस ख़तोंकी बारी आयी। और हमने भी उसी क़दर उनको जवाब लिखे। तबीयत लगी रहती है, जिस वक़्त ख़त आता है जानमें जान आती है...."

"सारा हाल इश्क़का और नसीबे-दुश्मनां, अलालत मिज़ाजे-नाज़ुक का...बड़ी फ़िक्र और तशवीश हुई। ज़रा परहेज़ रखना, खट्टा-मिट्ठा बहुत न खाना। अगर हमसे मुहब्बत है तो बख़ूबी इलाज करना। और मेरा रंज जो करती हो साहब, ख़ुदा यह भी आसान कर देगा...."

और यह रंज तो आसान यों हुआ कि इसी जलावतनीके ज़मानेमें १८८७ ईसवीमें वाजिद अली शाह 'अख़्तर' की मृत्यु हो गयी। और वह लखनऊ उस समय 'जोश' के शब्दोंमें, "जिसकी सभ्यताके कपोलपर तितलीके परोंकी-सी रंगीन धारियाँ बन गयी थीं" एक इनके मरते ही उजाड़-पजाड़ होने लगा।

लेकिन क़लमकी यह रंगीनियाँ इनके साथ दफ़न न हुईं, यह विरासत मेरे और आपके हिस्सेमें आयी।

फ़सीहुल मुल्क 'दाग़'

# फ़सीहुल मुल्क 'दाग़' देहलवी

दाग़की 'मस्नवी' का एक अंश है :

**फिर हुईं दिल में हस्रतें आबाद,**
**नाले[1] देने लगे मुबारक-बाद।**
**फिर हुआ शौक़ जिब्हा-साई[2] का,**
**फिर जमा रंग आश्नाई[3] का।**
**देखकर इस परी-शमायल[4] को,**
**रह गया थाम-थामकर दिल को।**
**किस क़ियामत ने पाएमाल[5] किया,**
**सिह्रे-बंगाला ने हलाल किया॥**

और यह बंगालेका जादू 'दाग़'के सिर उस वक़्त चढ़ा जब हज़रते-दाग़ क़िला-ए-मुअल्लाकी बरबादीके बाद रामपुर आये और रियासतके नौकर हुए। 'नवाब कलबे अली ख़ाँ' बड़े ज़िन्दा-दिल रईस थे और दिल्लीके उजड़नेके बाद अच्छे-अच्छे कलाकारोंका जमघट रामपुरमें हो गया था। नवाबने 'मेला-बेनज़ीर'की बुनियाद डाली जो दिल्लीके 'फूलवालोंके मेले' का जवाब था। इस मेलेमें दूर-दूरसे प्रसिद्ध तवायफ़ें और गायक बुलाये जाते थे। इन्हींमें एक बार कलकत्तेकी 'मुन्नीबाई हिजाब' भी आयीं। और 'हिजाब' जब कुछ रोज़ रामपुर रहकर कलकत्ते वापस गयीं तो दाग़पर इनका जादू चल चुका था :

---

१. आर्तनाद,फ़रियाद, २. माथा टेकना, सिर झुकाना, ३. दोस्ती, ४. परी चेहरा, ५. पैरोंसे रौंदना।

"दिलदारो-दिलनवाज़ !
क्या ग़ज़ब है, आँखसे ओझल होते ही वह सब क़ौलोक़रार यकलख़्त फ़रामोश कर दिये। ख़त भेजा था, वहाँकी दिलचस्पियोंमें इतनी खोयी हो कि जवाब देना मुहाल। क्या मेरे सीनेमें दिल नहीं या दिलमें तड़प नहीं। क्या बेक़रार होना मुझे नहीं आता, क्या तिलमलाना मैं नहीं जानता। इस ख़तका जवाब जल्द न आया तो ख़ुद बाज़ार जाकर ज़हर लाऊँगा और बे-मौत मरकर दिखा दूँगा। तुमसे वादा लिया था और तुम वादा कर गयी थीं कि रोज़ नहीं तो हफ़्तेमें दो बार ख़त ज़रूर लिखा करोगी। आज दस दिन हो गये न ख़ैर है न ख़बर! यहाँ तो जिस दिन-से गयी हो जानपर बनी है; कोई बात अच्छी नहीं लगती। जबतक तुम्हारा ख़त न आये दिलको कैसे चैन आये!"

हिजाबका खत आनेपर 'दाग़'को चैन आ ही गया होगा, परन्तु दूसरे साल मेला बेनजीरके आते ही मुलाक़ातकी आग फिर भड़क उठी :

"बाईजी, सलामे शौक़ !
ग़ज़ब तो यह है दूर बैठी हो, पास होतीं तो सैर होती। कभी तुम्हारे गिर्द घूमता और शोलाए-जव्वाला बन जाता; कभी तुम्हें शमा क़रार देता और पतंगा बनकर क़ुरबान हो हो जाता, कभी बलाएँ लेता और सदके क़ुर्बान हो जाता। एक ख़त भेजा है अभी उसके इन्तिज़ारकी मुद्दत ख़त्म नहीं हुई कि यह दूसरा ख़त लिखवाने लगा। ख़ुदाके वास्ते जल्द आओ या तारीख़ मुक़र्रर करके इत्तिलाअ् दो। शबो-रोज़ इन्तिज़ारमें गुज़रते हैं। वहाँ के लोग क्योंकर ख़ुशीसे इजाज़त देंगे, तुम्हीं चाहोगी तो रवानगी हो सकेगी। मैं

तुम्हारे लिए बिलबिला रहा हूँ। यह ख़ौफ़नाक काली-काली रातें, क्या कहूँ क्योंकर तड़प-तड़पकर सुबहकी सूरत देखता हूँ। यक़ीन जानो, ऐसे तड़पता हूँ जैसे बुलबुल क़फ़समें। मेरे दोनों ख़तोंका जवाब आना ज़रूरी है....''

ख़तका जवाब आया, हिजाब आयीं और दाग़ आनन्दित हो उठे; लेकिन जाने कहाँसे प्रेमकी इन दो समानान्तर रेखाओंके बीच नवाब कलबे अली ख़ाँके भाई साहबज़ादा हैदर अली ख़ाँ प्रतिद्वन्द्विताका त्रिकोण बनकर उभर आये; वह भी हिजाबमें दिलचस्पी लेने लगे। हिजाबको भी उधर प्रवृत्त देखकर दाग़ अपने-आपको क़ाबूमें न रख सके। दिलका बुख़ार निकालना था, एक परची लिखकर भेजवा दी :

''सितमगर, सितमपेशा!

तुम दो रोज़से नवाब साहबके यहाँ थीं, यहाँ दिलपर अजीब आलम गुज़र गया। मैं नहीं मानूँगा कि तुम मजबूर हो गयीं। इस रियासतमें ऐसी भी ख़ुदाकी बन्दियाँ हैं जो रईसके हज़ार दबावपर भी अपनी जगहसे हिलतीं नहीं। जिनसे वास्ता है और जिनसे वफ़ादारीका अह्द कर चुकी हैं, अपने क़ौलपर क़ायम हैं। एक तरफ़ दौलत है, रियासत है और हर तरहकी शानो-शौकत है, लेकिन मुहब्बतका नाम नहीं। तुम्हारा दिलदार उनके मुक़ाबलेमें कोई ख़ूबी नहीं रखता मगर तुम्हारी उल्फ़तमें जानसे गुज़र सकता है। क्या मेरे रक़ीब भी ऐसा कर सकते हैं, क्या तुमको इसका यक़ीन है? और जब नहीं कर सकते तो फिर किस लिए तुम 'दाग़'-जैसे परस्तारको[1] भूली हुई हो? दिलपर जब्र कर लिखता हूँ कि अगर वाक़ई तर्क-

१. उपासक।

तअल्लुक़[1] मंज़ूर नहीं तो फिर मुझे दीदो-शुनीद[2] से क्यों महरूम रखा जाता है ?

तुम जानो तुम को ग़ैर से जो रस्मो-राह हो ;
मुझको भी पूछते रहो तो क्या गुनाह हो ।

हिजाब इस ख़तसे ज़रा भी प्रभावित नहीं हुई । इसी बीच दाग़ने हिजाबको एक ऐसी महफ़िलमें देख लिया जहाँ हिजाब बहुत ही बे-हिजाब[3] थीं । दाग़की जलनका कोई ठिकाना न रहा :

"बेमेह्‌रो-बेवफ़ा ! कल उस महफ़िलसे बादिले-दाग़दार[4] और यासो-हर्मा[5] का गहरा चर्का खाकर आया हूँ । उस वक़्तसे सोच रहा हूँ कि आख़िर यह तमाशा कबतक ? मुआमला यक सू[6] होना ज़रूरी है । सुबह और शाम होते-होते इतना ज़माना गुज़र गया, आख़िर कोई हद भी है । कलेजेमें नासूर पड़ गये हैं, अब तो इनका इलाज करना ही होगा । कहिए आपके दिलकी हवस घटी या बढ़ी । वह आदमी ज़रूर बेहिस है और उसके दिलमें बजाय दिलके लोहेका टुकड़ा रखा हुआ है जो यह मंज़र[7] देखे और चुप रहे । मेरे जिस्ममें ख़ून हाँड़ीकी तरह पक रहा है । तुम्हें यह अच्छा मालूम होता है कि यह सब शिकरे मिलकर नोचा-खसूटा करें । आख़िर यह क्या सिरमें समायी है ? कौन जाने इसका क्या अंजाम हो ! यही लैलो-नहार है तो दाग़का सलाम क़ुबूल हो । दिलपर सब्रकी सिल रखूँगा मगर तुम्हारा नाम न लूँगा । आख़िर बे-हयाईकी कोई हद भी होती है...."

---

१. सम्बन्ध तोड़ना, २. देखना-सुनना, ३. निर्लज्ज, ४. दुःखी दिलसे, ५. निराशा, ६. निर्णय, ७. दृश्य ।

और इसी सिलसिलेमें दाग़ने एक ख़त अपने दोस्तको भी लिखा :

"मुहिब्बे दाग़ ! अगर आप मुझे यह लिखें कि नवाब साहबकी बुलायी हुई हिजाब गयी थीं या ख़ुद उन्होंने डोरे डाले थे तो बड़ी बन्दा-नवाज़ी होगी। मेरा दिल और दिमाग़ फुँक चुका है। दिलमें ज़ख़्मोंकी हद नहीं रही, और फिर यह रोज़-रोज़की नमक-पाशी—तिलमिलाया जाता हूँ। आप दोनों तरफ़के हालातसे वाक़िफ़ हैं। आपको ख़ूब मालूम है कि नवाब साहबके मुक़ाबलेमें सिवा इसके कि जल-भुनकर अपने इश्क़की आगमें कबाब हो जाऊँ, कुछ नहीं कर सकता। आप शायद नवाब साहबसे कह सकें कि दाग़, हिजाबके तीरे-नज़रसे बे-तरह घायल है, आपकी दिल-बस्तगीके लिए और भी सामान हैं लेकिन बेचारा दाग़, हिजाबको न पाये तो कहाँ जाये। और अगर कहीं जाये तो वह फाँस जो दिलमें पेवस्त है कैसे दूर हो। हिजाबके इन्तिज़ारमें बेचैन हूँ...."

लेकिन बात हदसे गुज़र चुकी थी इसलिए मित्रोंके बीच-बचावपर भी कोई अच्छा नतीजा न निकला। हाँ, हुआ यह कि नवाब साहबका हिजाब-से दिल भर गया तो उन्होंने हिजाबसे मुँह फेर लिया। दाग़ने अब भी उन्हें बुलाना चाहा। हिजाब लज्जित थीं, कैसे आतीं ? बीमारीका बहाना कर गयीं। विवरण इस ख़तमें देखिए जो दाग़ने हिजाबकी बहन हमीदन बाई 'निक़ाब'को लिखा था :

"बी हमीदन बाई ! तुमने यह ख़ूब सुनायी कि वह आनेवाली थीं, मगर नागहाँ तबीयत ख़राब हो गयी, जान-के लाले पड़ गये। वह तो ज़िन्दगी थी कि दो-तीन घड़ी दौरेसे तकलीफ़ उठाकर ठीक हो गयीं। कल ख़ाँ साहब भी आये थे। उनसे देर तक ज़िक्र रहा, वह देर तक वहाँ बैठकर

आये थे। उन्होंने तो इस तरहकी कोई बात नहीं कही जिससे नागहाँ अलालत[1] का पता चलता। यह क्या बात है, आख़िर ऐसा मुझे क्यों लिखा गया; इससे उनका क्या मक़सद था? क्या मेरा इम्तहान मंज़ूर था। सोचती तो होंगी कि दाग़ कितना संगेदिल है, तकलीफ़ और बीमारीका हाल सुनकर भी भागा हुआ नहीं आया। और किसी वजह-से आना मुमकिन न था तो ख़ैर-ख़बर भी न ली...."

यह ख़ैर-ख़बर लेनेकी भी एक ही रही। दाग़ भला यह झोल काहे-को पालते। वहाँ तो "रोज़ माशूक़ नया, रोज़ मुलाक़ात नयी" वाला मुआमला था। और फिर दाग़ने तो यह अपनी ही ज़बानसे कहा था ना कि :

इक न इक हम लगाये रखते हैं

ऐसेमें लोग हिजाबके बाद बनारसकी 'मलिका जान' और 'गौहर जान' से दाग़के सम्बन्धको हवा न देते तो क्या करते। लोगोंके कहने-सुननेपर तो फिर कभी विचार कर लेंगे, अभी आप मलिका जानके नाम दाग़का यह पत्र देख लें :

"मलिकए अक़लीमे-सुख़न-रवी! क्यों जी ख़ुदाने मुझे क्यों आशिक़-मिज़ाज बनाया? इस बलामें क्यों फँसाया? पत्थरका दिल लोहेका कलेजा क्यों न बनाया? जिसमें कोई अच्छी अदा देखी तबीयत लोट गयी। ख़ुसूसन कोई माशूक़ पढ़ा-लिखा हो और शेर-गो[2] भी हो तो मिर्ज़ा दाग़की मौत है...."

जी हाँ, यह मलिका जान शाइरी भी करती थीं और इनके हाथों भी दाग़ कुछ दिनों जीते और मरते रहे थे। और फिर गौहर जान भी

---

१. बीमारी, २. शाइर।

थीं, जिनको पत्र लिखते हुए मिर्ज़ा दाग़ने हिजाबके बारेमें लिखा था :

"....हिजाबसे दिल्लगी हो गयी थी। एक दास्ताने तूल-तवील है। अकसर वह हाल तुमको "मस्नवी फ़र्यादे दाग़" से ज़ाहिर हुआ होगा, ज़रा भी फ़र्क़ नहीं। मैं उसका मम्नून हूँ; रामपुरमें तलवारकी धारपर मुझसे मिली और उस मुलाक़ातको आदमीयत और अताअतके साथ बेगरज़ाना कलकत्ते तक निबाहा। उस मुलाक़ातकी शुहरत तो क्या रुस्वाई तमाममें हुई, मगर जुदाई भी ऐसी हुई कि मुलाक़ातकी उम्मीद न रही। मैं एक रियासतका नौकर, कलकत्तेमें हमेशा क्योंकर रह सकूँ, इतनी मक़दिरत[1] कहाँसे लाऊँ। तर्के-रोज़गार क्योंकर हो सके[2] कि यह वसीलए-आबरू[3] और हीलए-मआश[4] है। बाईजीको यह ज़िद बेहूदा हुई कि तमाम उम्र रामपुरकी सूरत न देखूँ—मेरे ख़मीरमें इश्क़ है, मैं वफ़ाका पुतला हूँ, जो मुझसे मिला और मिलकर छूटा, याद करता रहा...."

कहाँ तो दाग़ने कभी हिजाबको यह लिखा था :

"दुश्मने-जानी, सलामे-शौक़ ! ऐन इन्तिज़ारमें तुम्हारा मुहब्बत-नामा मिला। कई बार पढ़ा, आँखोंसे लगाया, चूमा, छातीपर धरे रहा। तुम लिखती हो कि मुझे भूल जाओ और अगर न भूलो तो बदल जाओ : यह कर लोगे तब ही तुम्हारे पास आऊँगी। ख़ूब, तुमको भूल जाऊँ !

तू भूलने की चीज़ नहीं ख़ूब याद रख ;
नादान किस तरह तुझे दिल से भुलायें हम।

---

१. शक्ति, २. नौकरी क्योंकर छोड़ी जाये ?, ३. मर्यादा बनाये रखनेका साधन, ४. रोज़ीका बहाना।

अच्छा तुम यहाँ आ जाओ, फिर हम दोनों एक-दूसरेको भूलनेकी कोशिश करेंगे। मुझे तुम्हारी हर बात मंज़ूर है। जवाबमें लिखो कि कब आ रही हो....''

और कहाँ अब बात इस मोड़पर आ पहुँची जहाँ एक रास्ता दूसरे रास्तेको बढ़कर काट देता है। और ऐसे ही एक मोड़पर दाग़ने अपने मित्र बहादुर ख़ाँ 'अंजुम' नेशापुरीको हिजाबके विषयपर धूल डालते हुए लिखा :

"......कम्बख़्त एक बलाए-बेदरमाँ थी जिसके तसव्वुरसे अबतक नजात नहीं; हरचन्द अब बहुत सब्र आ गया है........आपने नाहक़ मेरी तस्वीर उनको भेजी, मैं उनसे कमाल नाराज़ हूँ। आज कुछ तबीयत अच्छी नहीं वर्ना गरमा-गर्म जवाब देता....''

किन्तु इस विषयपर धूल डालनेसे पहले दाग़का एक इन्तहाई दिलचस्प-सा पत्र देख लें, जो कभी हिजाबको ही लिखा गया था :

"नेक-बख़्त, पाकदामन, बेलौस मुन्नी बाई हिजाब, सलामत रहिए। गुस्ताख़ी मुआफ़। क्या ख़ूब! मुझपर आस्माने-हवादिस[1] टूट पड़े। मेरे दाँत निकल जायें और आप दाँत निकालकर हँसें। सलामतीसे पूरा ख़त देखनेकी ज़रूरत नहीं, अगर देखा तो समझे कौन, ग़रज़ किसको, तवज्जुह कैसी। कोई कल मरता आज मर जाये तो घीके चिराग़ जलें। पहले ख़तमें लिख दिया है कि साहब सब क़िसिमके दाँत एक आदमीके मुँहके लाइक़ भेजवा दीजिए, दुनिया जानती है कि बत्तीस दाँत होते हैं....''

---

१. बृहत् घटनाएँ।

मीर नासिर अली

# मीर नासिर अली

१९वीं शताब्दीके प्रारम्भिक कालमें, उर्दू साहित्यमें एक नाम उभरा था—मीर नासिर अलीका। नासिर अलीने सर सैयद अहमद ख़ाँके 'तहज़ीबुल-अख़लाक़'के जवाबमें 'तेरहवीं सदी' और 'नासिरी' नामकी पत्रिका निकाली और फिर लगभग तीस बरसों तक 'सलाए-आम'का सम्पादन करके उसे प्रकाशित करते रहे। और 'सलाए-आम' अपनी चन्द विशेषताओंके कारण उस युगकी सबसे ऊँची पत्रिका मानी जाती रही। मीर नासिर अलीकी मृत्युपर नियाज़ फ़तहपुरीने लिखा था कि :

> **"·····'सलाए-आम'की जवानी थी और मेरी भी; लेकिन इस अन्तरके साथ कि मैं उसका पुजारी था और वह मेरा ईश्वर। क़लमसे लिखनेवाले तो बहुत हैं लेकिन दिलसे लिखनेवाला केवल एक मीर नासिर अली था।"**

और मीर नासिर अलीके बारेमें 'साक़ी'के सम्पादक शाहिद अहमद देहलवीने बताया है कि मीर साहब दुबले-पतले, कमर झुकी हुई, अस्सीके पेटेमें, गेहुवाँ रंग, सिरपर पगड़ी, लम्बा-सा चोला, हर रोज़ तीसरे पहर झूमते-झामते अपनी हवेली 'नमकवालोंके फाटक'से निकलते और फ़राश-ख़ानाकी दो-एक दूकानोंपर ठेकियाँ लेते लाल कुआँ, हौज़ काज़ी, चावड़ी बाज़ार पैदल तय करते हुए शामके वक़्त चौकपर पहुँच जाते। आँधी आये, मेंह बरसे, उनके इस नियममें कोई फ़र्क़ न पड़ता था। चौक पहुँच-कर कबाड़ियोंमें घुस जाते। पुरानी किताबें देखते-भालते, भाव-ताव करते, पैसेकी जगह चार पैसे देते और ख़ुश-ख़ुश अपना माल उठाये फिर उसी

तरह झूमते-झामते उसी रास्तेसे अपने घर पहुँच जाते। मीर साहबने नमक विभागमें पच्चीस बरस तक नौकरी की थी और कोई पैंतालीस बरसों तक पेन्शन खायी थी। पेन्शन खानेवालोंमें दिल्लीके दो बुड्ढे प्रसिद्ध थे, एक पण्डित अमरनाथ 'साहिर' और दूसरे थे मीर नासिर अली।

यूँ तो 'रियाज़ ख़ैराबादी', 'मेहदी अफ़ादी', 'नियाज़ फ़तहपुरी'–जैसे लेखक 'सलाए-आम' के लिखनेवालोंमें थे; पर अधिकतर लेख मीर साहबके ही होते थे। मीर साहबके चाहनेवाले मरते गये और 'सलाए-आम' सिसकने लगा, मगर मरते दम तक पत्रिका बन्द न होने दी। अपनी पेन्शनमें-से कुछ रुपये निकाल देते थे और केवल सौ कापियाँ छपकर चाहनेवालोंमें बँट जाती थीं। अगर कोई ग्राहक बनना भी चाहता तो उसका शुल्क वापस कर देते कि : "ये परचा आपकी समझ में नहीं आयेगा, कुछ और पढ़िए।" लोग उनसे मिलने आवे; पर उनकी उखड़ी-उखड़ी बातें सुनकर निराश लौट जाते। मीर साहब पुराने वैज्ञानिकोंका-सा जीवन गुज़ारते थे। एक ज़मानेमें उनकी अपनी लाइब्रेरी इतनी अच्छी थी कि 'ख़ुमख़ानए-जावेद' के लेखक लाला श्रीरामके बाद इन्हींकी लाइब्रेरीका नम्बर आता था। जब मीर साहब अधिक बूढ़े हो गये तो उनकी क़ीमती किताबें चोरी होकर कौड़ियोंके मोल कबाड़ियोंमें बिकने लगीं। मीर साहब शामको चौक जाते तो अपनी ही किताबें मुँह-माँगे दामों फिर ख़रीद लाते।

मीर साहब रास्ता चलते-चलते चुपकेसे किसी लड़केके चाँटा मार देते। वह पलटकर बुरी-सी गाली देता और मीर साहबके दिलकी कली जैसे खिल जाती : "आहाहाहा! दिल्लीका रोड़ा है ना, क्या बात कही है; मज़ा आ गया।" और मीर साहब झूमते चले जाते।

मीर साहब अपने अलावा किसीको कुछ समझते न थे। उनका साहित्य अपनी ही आवाज़की छाँवमें पलता बढ़ता रहा है। बेटेको उन्होंने लिखा था :

"बेटा, ये महीना दिसम्बरका है, जिसके आख़िरमें तुम आओगे। उसमें अब थोड़े दिन बाक़ी हैं। फिर भी मैं बहाने ढूँढ़ा करता हूँ कि जबतक तुम आओ तुमसे बातें करनेका कोई हीला निकल आये। कल लाला श्रीरामका ख़त वलायतसे आया जिसमें उन्होंने लन्दनका पूरा हाल लिखा है। मगर मैंने वलायत तो अलग, समुन्दर, जहाज़, कलकत्ता, बम्बई भी नहीं देखे। मुझे तमाम दुनियामें हिन्दुस्तान, हिन्दुस्तानमें दिल्ली, दिल्लीमें फ़राशख़ाना, फ़राशख़ानामें अपना घर और इस घरमें ये कोठरी पसन्द है जिसमें अँगीठी जल रही है और बिजली रौशन है, मैं अँगीठीसे चिमटा हुआ बैठा हूँ और अख़बार, रिसालों और किताबोंका ढेर है, एक किताबसे जी हटा तो दूसरी उठा ली और सबसे घबरा गया तो गद्देपर पड़ रहा। और फिर जब सुकून मिला 'सलाए-आम' के लिए कुछ-न-कुछ लिखने लगा कि उर्दूकी आबरू तो मेरे ही दमसे है ना।...."

और ये कि :

"बेटा, अबकी दफ़ा मेरी बीमारीसे तुम्हें बहुत ज़्यादा फ़िक्र हुआ और मैं भी कुछ-कुछ आसार सफ़रे-आख़िरतके[1] देख रहा था। बारे ख़ुदाने तुम्हारी परेशानी देख ली और मैंने भी अभी चन्द रोज़ और ज़िन्दा रहनेका इरादा कर लिया। ख़ुदाने अपना फ़ज़्ल किया। जब कि तुम्हें मेरी वजहसे इस क़दर परीशानी हुई तो मुझे चाहिए कि ख़ुदाके फ़ज़्लका भी ज़िक्र करूँ।

बुढ़ापेकी वजहसे अबकी बीमारीमें ज़्यादा अन्देशा

---

१. दुनियासे जानेके लक्षण।

तरह झूमते-झामते उसी रास्तेसे अपने घर पहुँच जाते। मीर साहबने नमक विभागमें पचीस बरस तक नौकरी की थी और कोई पैंतालीस बरसों तक पेन्शन खायी थी। पेन्शन खानेवालोंमें दिल्लीके दो बुड्ढे प्रसिद्ध थे, एक पण्डित अमरनाथ 'साहिर' और दूसरे थे मीर नासिर अली।

यूँ तो 'रियाज़ ख़ैराबादी', 'मेह्दी अफ़ादी', 'नियाज़ फ़तहपुरी'—जैसे लेखक 'सलाए-आम' के लिखनेवालोंमें थे; पर अधिकतर लेख मीर साहबके ही होते थे। मीर साहबके चाहनेवाले मरते गये और 'सलाए-आम' सिसकने लगा, मगर मरते दम तक पत्रिका बन्द न होने दी। अपनी पेन्शनमें-से कुछ रुपये निकाल देते थे और केवल सौ कापियाँ छपकर चाहनेवालोंमें बँट जाती थीं। अगर कोई ग्राहक बनना भी चाहता तो उसका शुल्क वापस कर देते कि : "ये परचा आपकी समझ में नहीं आयेगा, कुछ और पढ़िए।" लोग उनसे मिलने आवे; पर उनकी उखड़ी-उखड़ी बातें सुनकर निराश लौट जाते। मीर साहब पुराने वैज्ञानिकोंका-सा जीवन गुज़ारते थे। एक ज़मानेमें उनकी अपनी लाइब्रेरी इतनी अच्छी थी कि 'ख़ुमख़ानए-जावेद' के लेखक लाला श्रीरामके बाद इन्हींकी लाइब्रेरीका नम्बर आता था। जब मीर साहब अधिक बूढ़े हो गये तो उनकी क़ीमती किताबें चोरी होकर कौड़ियोंके मोल कबाड़ियोंमें बिकने लगीं। मीर साहब शामको चौक जाते तो अपनी ही किताबें मुँह-माँगे दामों फिर ख़रीद लाते।

मीर साहब रास्ता चलते-चलते चुपकेसे किसी लड़केके चाँटा मार देते। वह पलटकर बुरी-सी गाली देता और मीर साहबके दिलकी कली जैसे खिल जाती : "आहाहाहा! दिल्लीका रोड़ा है ना, क्या बात कही है; मजा आ गया।" और मीर साहब झूमते चले जाते।

मीर साहब अपने अलावा किसीको कुछ समझते न थे। उनका साहित्य अपनी ही आवाज़की छाँवमें पलता बढ़ता रहा है। बेटेको उन्होंने लिखा था :

"बेटा, ये महीना दिसम्बरका है, जिसके आख़िरमें तुम आओगे। उसमें अब थोड़े दिन बाक़ी हैं। फिर भी मैं बहाने ढूँढ़ा करता हूँ कि जबतक तुम आओ तुमसे बातें करनेका कोई हीला निकल आये। कल लाला श्रीरामका ख़त वलायतसे आया जिसमें उन्होंने लन्दनका पूरा हाल लिखा है। मगर मैंने वलायत तो अलग, समुन्दर, जहाज़, कलकत्ता, बम्बई भी नहीं देखे। मुझे तमाम दुनियामें हिन्दुस्तान, हिन्दुस्तानमें दिल्ली, दिल्लीमें फ़राशख़ाना, फ़राशख़ानामें अपना घर और इस घरमें ये कोठरी पसन्द है जिसमें अँगीठी जल रही है और बिजली रौशन है, मैं अँगीठीसे चिमटा हुआ बैठा हूँ और अख़बार, रिसालों और किताबोंका ढेर है, एक किताबसे जी हटा तो दूसरी उठा ली और सबसे घबरा गया तो गद्देपर पड़ रहा। और फिर जब सुकून मिला 'सलाए-आम' के लिए कुछ-न-कुछ लिखने लगा कि उर्दूकी आबरू तो मेरे ही दमसे है ना।...."

और ये कि :

"बेटा, अबकी दफ़ा मेरी बीमारीसे तुम्हें बहुत ज़्यादा फ़िक्र हुआ और मैं भी कुछ-कुछ आसार सफ़रे-आख़िरत[1]के देख रहा था। बारे ख़ुदाने तुम्हारी परीशानी देख ली और मैंने भी अभी चन्द रोज़ और ज़िन्दा रहनेका इरादा कर लिया। ख़ुदाने अपना फ़ज़ल किया। जब कि तुम्हें मेरी वजहसे इस क़दर परीशानी हुई तो मुझे चाहिए कि ख़ुदाके फ़ज़लका भी ज़िक्र करूँ।

बुढ़ापेकी वजहसे अबकी बीमारीमें ज़्यादा अन्देशा

---

१. दुनियासे जानेके लक्षण।

रहा और मामूलसे ज़्यादा तकलीफ़ हुई। उसी तकलीफ़के सबब रातको तुम्हारी बीवी और औरतोंको जगाया। एक बार घबराकर नीचे चला गया। रातको ख़्वाबमें देखा कि मर रहा हूँ और वालिद मरहूमने मुझे ज़मीनसे उठाकर गोदमें लिया और ज़ुबाने-मुबारकसे फ़रमाया : अफ़सोस! कैसा अच्छा लड़का मर रहा है!!—ये आवाज़ मेरे कानमें साफ़ आयी और अभी वह मुझे सँभाले हुए थे कि मेरी आँख खुल गयी। मैं घबराकर नीचे चला गया। मैंने कभी वालिदे-माजिदको अपनी तरफ़से इतना ख़ुश नहीं देखा था। बापका ख़ुश होना मेरी निगाहमें हज़ार बहिश्त और लाख नेमतसे बेहतर है। जिस महब्बतसे मैंने उनकी ज़ुबानसे ये लफ़्ज़ सुने, मैं क़ियामत तक नहीं भूलनेका। क़ियामतमें यही लफ़्ज़ मेरी नजातका ज़रिया होंगे। अब मुझे कामिल यक़ीन है कि दीन और दुनियामें मेरा बेड़ा पार हो गया। दीनका सुबूत देख लो कि जिसका बाप बेटेसे ख़ुश हो उसकी ख़ुशनसीबीमें क्या शक है। रहा दुनिया-का मुआमला, ये भी मेरे बापके सदकेमें ऐसा गुज़रा कि ख़ुदा सबको नसीब करे। अब मैं ख़ुश हूँ, तुम भी मेरे साथ ख़ुश हो।

तुम इस ख़तको रख छोड़ना कि मेरे एतिक़ाद[1]का गवाह रहे और मेरी वसीयत याद रखना कि वालिदकी पायन्ती मुझे गाड़ देना और उनके कटहरेसे मिला देना। इसके बाद मुझे कोई तमन्ना नहीं....."

पर तमन्ना क्यों न हो। नासिर अली कलाकार थे और हर कलाकार-

१. विश्वास।

की तरह उनके दिलमें भी तो अपनी शुहरत और महत्ताका एक ताज-महल बनानेकी प्यास थी। और आप जानें कि यही प्यास तो आशाओंको जन्म देती है।

मीर नासिर अलीकी लाइब्रेरी दिल्लीकी चन्द अच्छी लाइब्रेरियोंमें-से एक थी। घरका पूरा हिस्सा 'कुतुबख़ान' कहलाता था। चारों ओर शीशे-की अलमारियाँ लगी हुई थीं जिनमें सैकड़ों क़ीमती हस्तलिखित प्रति और हज़ारों लाखों फ़ारसी, अरबी, अँगरेज़ीकी किताबें थीं। उसीसे सम्बन्धित ये पत्र देख लें। शायद, आशाओंमें गले-गले डूबी और फिर भी नासिर अलीकी प्यासी आत्माका कोई पता मिल जाये आपको :

"बेटा, मेरी एक आरज़ू ये है कि कुतुबख़ानेवाला मकान तकल्लुफ़से आरास्ता हो जाये और मैं दिन-रात वहीं पड़ा रहूँ। तुम अगर साथ चाय पीने आ जाओ तो क्या कहना, मगर कोई मामूली ज़िक्र किसीका न हो। खाना जब भूख लगे पका-पकाया मिल जाये और लड़कियोंमें-से कोई आकर खिला जाये। कोई नायाब[1] किताब या चीज़ नज़र आये तो मुझे इतना मक़दूर[2] हो कि फ़ौरन ख़रीद लूँ। रातको बेफ़िक्र सोऊँ और सुबह ख़ुश उठूँ। कोई मस्अला फ़िलॉसफ़ीका जो समझमें न आता हो उसे समझ लूँ और दूसरोंको समझा सकूँ। दुनियाकी जितनी किताबें दिलो-दमाग़को ख़ुश कर सकें सब मेरे पास हों। जाड़ेमें अँगीठी हों और गरमियोंमें बर्फ़। बरसातमें कमरेके अन्दर बैठूँ और वह टपकता न हो। रातको जलानेके वास्ते ख़ूबसूरत मोम-बत्तोकी रौशनी हो और जो किताब मुझे पसन्द हो वह मेरे सामने हो तुम इतना सामान मेरे लिए कर दो तो—I will

---

१. जिसका मिलना मुमकिन न हो, २. सामर्थ्य, हैसियत।

die happy !....”

लगता है कि जीवनका सारा फैलाव सिमटकर उनके क़लम, उनकी किताबों और उनके घरमें आ गया था। जीवनका अर्थ उनके यहाँ, उनका अपना जीवन था, दूसरोंका नहीं। ये बात भी ग़नीमत ही है कि मीर साहबने अपने अद्वितीय व्यक्तित्वकी शान्तिके लिए उर्दू गद्यके प्रचारकी ओर ध्यान दिया, गद्यको एक नयी शैली दी और उर्दू पत्रकारिताको एक ऐसी पत्रिका दी जिसके द्वारा उर्दू लेखकोंकी एक खेप तैयार हुई। एक ऐसी खेप जिसे देखकर नासिर अली-जैसे अकेले व्यक्तिको भी प्रशंसा करनी पड़ी थी :

> **"मैं वही नासिर अली हूँ जिसने रिसाला 'तेरहवीं सदी' निकाला था मगर नौजवान नहीं रहा। उस वक़्तका कोई आदमी जवान रहा हो तो मेरा क़ुसूर! जवानीके साथ वह तबीयत भी नहीं रही जिसकी वजहसे लिखने-पढ़नेका मश्ग़ला था। लिखनेको तो मैंने मुद्दतसे क़सम खा ली है मगर पढ़नेकी आदत नहीं गयी। मैं ये देखकर बहुत ख़ुश हूँ कि जिस ग़रज़से मैंने उर्दूमें लिखना शुरू किया था, वह ग़रज़ मेरी आरज़ूसे ज़्यादा पूरी हो गयी। अब मुझसे बहुत अच्छे-अच्छे लिखनेवाले नज़र आते हैं, जिनसे उर्दूमें जान पड़ गयी है।...."**

दूसरोंकी ये प्रशंसा तो नासिर अलीने अपने अन्तिम दिनोंमें की थी। वैसे 'तेरहवीं सदी' और 'सलाए-आम' के बारेमें स्वयं मीर साहबके विचार सुन लें। हुआ ये कि 'तेरहवीं सदी' जिसमें हास्य-व्यंग्यकी मिलावट भी थी, बन्द हो गया तो मीर साहबने 'सलाए-आम' निकाला। 'सलाए-आम' हज़ार ऊँची पत्रिका सही, पर वह थी कुछ नीरस! और इस गुणकी दाद सबसे तो नहीं मिल सकती। किसीने उसपर आक्षेप भी लगाये; सो जवाबमें नासिर अलीने लिखा :

"······जिन्हें कोई एतिराज़ नहीं मिलता वह ये कह उठते हैं कि 'सलाए-आम' में 'तेरहवीं सदी'की-सी शोख़-बयानी नहीं। सच पूछिए तो 'तेरहवीं सदी'को मैं भूल चला था। समझे हुए था कि एक ख़याली बातका क़िस्सा चार-पाँच साल तक चला, बहुत चला। अगर कोई ख़ूबी उसमें थी, वह उसके साथ ख़त्म हो ली। 'सलाए-आम' के सामने 'तेरहवीं सदी' तबीयतकी उमंगका नतीजा थी, अब पुख़्तए-मग़ज़ाने-मआनी[1] से वास्ता पड़ा है। आगे मैं दूसरोंका हाल अपनी ज़ुबानमें अदा करता था। जिस तरह ड्रामेमें ऐक्टर दूसरोंके रंजो-सुरूरकी नक़ल करते हैं। जंगल देखा नहीं और क़ैसका पार्ट कर रहे हैं। पहाड़ देखा नहीं और फ़रहाद बने बैठे हैं। अब मैं अपना हाल अपनी ज़ुबान-से इस तरह अदा कर रहा हूँ जिसमें बनावटका नाम नहीं। जो मुझपर गुज़रती है, मैं जानता हूँ कि वही औरोंपर गुज़रती होगी। आगे जो जीमें आता था कह डालता था और कोई नापसन्द नहीं करता था। अब बहुत सोचकर लिखता हूँ और शिकायत होती है। आगे जो नहीं समझते वह भी ख़ुश होते थे, अब जो समझते हैं वह भी दादमें कमी करते हैं। आगे शोख़-बयानीपर चुप हो जाते थे, अब मतानतमें[2] भी ऐब निकालते हैं। आगे जिन बातोंको मैं बे-समझे लिख देता था, लोग समझ जाते थे। अब समझा-कर लिखता हूँ और समझनेवालोंके लाले हैं। आगे वाह-वाह थी अब आह-आह है!····"

---

१. अर्थके तत्त्व, २. गम्भीरता।

और मैं कहता हूँ इस वाह-आहसे अलग, चलते-चलते ये शेर तो आप अपने ज़ेहनमें रख ही लें। जिसे कभी मीर नासिर अलीने ही सुनाया था :

"नहीं गुमनाम मैं अहले-सुख़न में ;
मेरा नामा है नामो अन्जुमन में।"

मेहदी हसन

# मेहदी हसन

मेहदी हसन १८७५ से १९२१ तक, लगभग पचास बरस ही जीवित रह सके। इनका जन्म मुहल्ला बसन्तपुर, गोरखपुरके एक खाते-पीते, शरीफ़ घरानेमें हुआ। होशकी आँखें जब खोलीं तो अपनी जन्मभूमिमें रंग जमा हुआ था रियाज़ ख़ैराबादीका। रियाज़ ख़ैराबादी, जो हर चौथे दिन 'रियाज़ुल अख़बार' निकाला करते, और फिर बादमें जिन्होंने गोरखपुरसे ही 'फ़ितना' और 'इत्र-फ़ितना'-जैसी पत्रिकाओं-द्वारा हास्य-व्यंग्यकी फुलझड़ियाँ छोड़ीं। अँगरेज़ीके लोकप्रिय नॉवेलोंको उर्दूका रूप दिया जिसमें रिमाल्ड्ज़का 'लव्ज़ ऑव द हरम' उर्दूमें 'हरम-सरा' का नाम पाकर अपना नाम कर गया। और फिर रियाज़ और रसा रामपुरी-की इत्रमें बसी हुई शाइरी....।

यह वातावरण था जिसमें मेहदी हसनने आँखें खोलीं, उसीमें पले-बढ़े। बाप कोर्ट इन्सपेक्टर थे। घरका ही एक हिस्सा मक्तब कहलाता था; वहीं बैठकर उर्दू-फ़ारसी पढ़ी। सम्भव है, थोड़ी अरबी भी पढ़ ली हो। और फिर कुछ दिन अलीगढ़ जाकर भी पढ़ आये। वह पेशेके लिहाजसे तहसीलदार थे। और उनके अपने कहनेके अनुसार ख़ासे कामियाब! लेकिन वह सरकारी नौकरीको सदा अपने लिए एक बवाल समझते रहे। उनका झुकाव साहित्यकी ओर था। पर वह कोई पेशावर लेखक न थे जो आनेवाली पीढ़ियोंके कष्टके लिए अपनी रचनाओंका ढेर छोड़ जाते। हाँ, चन्द तसवीरे-बुताँ, चन्द हसीनोंके ख़ुतूत, यही दो चीज़ें मरनेवालेने यादगार छोड़ी हैं। पर आप तो ख़ुतूतको ही ग़नीमत जानिए—इसलिए

भी कि तसवीरे-बुताँ आपकी आँखोंको रोग भी तो लगा सकती हैं।

मेहदीने दूसरी शादी की है। मौलाना शिब्लीको उसकी सूचना यूँ दी जाती है :

"जनाबवाला,

आपके ख़तका जवाब इतने दिनके बाद ! आपको तअज्जुब होगा। लेकिन मैंने शायद आपको अपने 'अहरामे-जदीद' की ख़बर नहीं दी। यानी मुद्दतकी तलाशके बाद वह चीज़ हाथ आयी, जो आप लोगोंको दूसरी दुनियामें मिलेगी। ख़ौफ़ था कहीं पतझड़ शुरू न हो जाये लेकिन अब तो नये सरसे कोंपलें फूटती मालूम होती हैं। आजकल 'ख़ैयाम'के फ़ल्सफ़ेपर अमल कर रहा हूँ। कोई अदा छूटने नहीं पाती; इसलिए मेरी मसरूफ़ियतका अन्दाज़ा कर लीजिए। फिर भी आपकी ताज़ातरीन तसनीफ़ ( यानी शेरूल-अज़म ) पेशे-नज़र है। और कभी-कभी हिनाई हाथोंमें भी होती है। 'फ़िरदौसी'पर आपका 'रिव्यू' इस हिस्सेकी जान है। ख़ैयामके साथ जितना ऐशियाई मुसन्निफ़ोंको बुख़्ल था, आपने उसकी तलाफ़ी कर दी और चूँकि ये मेरे नये उनवाने-ज़िन्दगीके लिहाज़से मतलबकी बात थी, इसलिए बहुत ख़ुश हुआ।

हाँ जनाब, "आपका बन्दा और मुशरिक ! हो नहीं सकता—।" बहुत तेज़ फ़िक़रा रहा। लेकिन सच ये है कि 'सलाए-आम'के साथ मेरा हुस्नेज़न इतना बढ़ा हुआ नहीं जितनी कोहनामश्क़ एडीटरकी गर्वीदगी मेरे साथ है। बात ये है जहाँ आपके तारीख़ी लिटरेचरकी संजीदगीपर मिटा हुआ हूँ, मेरा ये ख़याल ज़रूर है कि नासिर अली ज़ुबान अच्छी लिखता है। और हलके लिटरेचरमें एक ख़ास तरहका

लुत्फ़ जो कुछ होता है, वह उसके लबो-लेहजेमें है।

पिछले पर्चेमें 'मुसकराने'पर उसने जो कुछ लिखा है बम्बईवालीको पेशे-नज़र रखकर देखिए। लेकिन इस दफ़ा आपका रंग वहाँ कुछ फीका रहा। क्योंकि आप जो ढूँढ़ते थे वह इलाहाबादमें मौजूद है। लेकिन जबतक आप परदेका गला न घोंटें अगर वह आँखोंमें न आये तो मेरा क़ुसूर नहीं। बड़ी मुश्किल ये है कि आप पुराने फ़लसफ़ेको माननेवाले हैं, यानी मुँहपर कुछ और दिलमें कुछ और। और मेरे यहाँ बात दूसरी है यानी हम लोग कहींसे लगी-लिपटी नहीं रखते, दिल और ज़ुबान एक ही चीज़के दो नाम हैं।

'अल-नदूह' आजकल बहुत अँगरेज़ हो गया है। बाक़ायदा वक़्तसे आता है। कोई नयी हरकत आपने इस बीचमें और सोची? हिन्दुस्तानी माओंकी तरह कि एक गोदमें, एक पेटमें। नयी उम्मीद हो तो पता दीजिएगा।"

मौलाना शिब्लीकी रचनात्मक शक्तियोंपर यहाँ जो व्यंग्य है, उसपर आप ज़रूर लौटें लेकिन उसी विषयपर 'सलाए-आम'वाले मीर नासिर अलीको लिखा गया ये पत्र भी तो देख लें :

"प्यारे जनाब, मैं इधर हफ़्तों आपकी तरफ़से कुछ ग़ाफ़िल-सा रहा। लेकिन इसकी वजह बहुत दिलचस्प है। आपसे ज़्यादा कोई नहीं जानता कि दुनियामें किसीको चाहना ग़ज़ब है। लेकिन उससे ज़्यादा क़ियामत ये है कि कहींसे आवाज़ आये कि 'तू मुझपर मरता है तो मैं भी तुझपर जान देती हूँ।'

पहलेपहल आँखें खोलीं, मुद्दत हुई एक रफ़ीक़े-ज़िन्दगी मिल गया था तो ख़्वाबे-तिफ़्ली और आरज़ूए-शबाब पहलूमें थी। ज़िन्दगीका बेहतरीन हिस्सा उसकी

पूजामें गुज़रा। लेकिन उसने साथ छोड़ा; वह दाग़ आज-तक दिलमें है—

ये सीने में ता ज़िन्दगानी रहेगा,
तेरा दाग़ दिल में निशानी रहेगा।

दुनियासे तबीअत बेज़ार हो गयी। इरादा कर लिया फिर कभी शादी न करूँगा। कई बरस यों ही गुज़रे, अपने ढबकी चीज़ मिलती नज़र न आयी। जैसी चाहता था वह बसकी चीज़ नहीं थी। ख़ुदा-ख़ुदा करके एक जीती-जागती ज़ोहरए-शब हाथ आयी। और आज इस लायक़ हो गया कि आपको अपने अहरामे-जदीदकी ख़बर देने बैठा हूँ। मैं बाज़ सूरतोंमें किसी हद तक मग़्रबीयत पसन्द करता हूँ यानी थोड़ी-सी आज़ादी। हमारे यहाँ इस तरहके अहराम अँधेरेका निशाना हैं, जिससे मुझको नफ़रत है। लेकिन शुकर है कि अँधेरेमें अचानक बिजली चमकी और वह गौहरे-शब चराग़ मिल गया जिसकी तलाश थी। औरत इतनी तो हो जिसे आप मजस्सम शाइरी कह सकें। जिसकी दिलकश आवाज़ कानोंमें मूसीक़ीका मज़ा दे।

नफ़ासत चाहती है कि हुस्न सीरतके साथ सूरतकी भी अच्छीसे-अच्छी हो। लेकिन मुश्किल ये है कि हिन्दुस्तानमें गोरी-चिट्टी 'अज़रा' और 'ज़ोहरा'की जगह साँवली 'करीमन' और 'नसीबन' पैदा होने लगीं। और हुस्ने-सबीहकी जगह एक तरहका नमक ईजाद किया गया। लेकिन जिस तरह मैं दूसरे दर्जेकी कोई चीज़ पसन्द नहीं करता यहाँ भी ये मेयार क़ायम रहा। अगले हफ़्तेमें मेरे पास आ जायेगी। और आप उसकी जलवागरीके आसार 'सलाए-आम'के सफ़्होंपर परदे-परदेमें देखेंगे।

मैं देखता हूँ, आपकी तहरीरका काट मुझे जीने नहीं देगा। आपके क़लममें ज़ुबानकी जगह चाक़ू, ख़ंजर, तलवार सभी कुछ तो हैं—ख़ुदा ही है जो जान बचे! आपका एक जुमला ख़ास मेरे ढबका था जिसपर लोट-लोट गया कि : "औरत जब मुँह फेरकर चलनेके लिए उठ खड़ी हो तो इसके ये मानी हैं कि ये चाहती है कि कोई दौड़कर दामन पकड़ ले।"

औरतसे सम्बन्धित मेहदी हसनके अपने विचार हैं—अच्छे या बुरे। मक़बूल साहबकी बीबीका देहान्त हो गया है। उसकी सूचना पाकर उन्हें लिखते हैं :

"भाई मक़बूल, मुद्दतसे कुछ ख़बर नहीं। मैं भी ख़ामोश रहा; लेकिन आपके दर्दे-दिलके एहसाससे ख़ाली नहीं। रफ़ीक़ए-ज़िन्दगी शराबकी तरह जितनी पुरानी हो ज़्यादा वाक़िफ़ होती है। ये वह राज़ है जो हवसपरस्तीके शैदाइयोंकी समझमें न आये। लेकिन मैं इसके अन्दाज़ेसे क़ासिर नहीं हूँ। क्योंकि इस ज़हरकी तल्ख़ी मेरे हिस्सेमें आ चुकी है। फ़र्क़ सिर्फ़ ये है कि मैं उस वक़्त घायल हुआ जब उम्रकी दोपहर थी। लेकिन ढलती छाँव यानी उम्रके पिछले दौरमें तो ये सानिहा बिलकुल नाक़ाबिले-तलाफ़ी होता है। ख़ासकर एक ऐसी ख़ुश-सिफ़ात और बावफ़ा हस्तीकी जुदाई तो शौहरकी मौत है। इन ख़यालातके साथ मैं क्या आपकी तशफ़्फ़ी कर सकता हूँ। लेकिन आप तो बहुत दीनदार और पूरे मौलवी हैं। हवादिसके लिहाज़से 'ख़ुदाकी मरज़ी' नाउमीदीके बराबर सही, लेकिन 'सरे-तस्लीम ख़म है जो मिज़ाजे-यारमें आये!' इसके सिवा किया ही क्या जा सकता है।

इसका दुःख है कि आपकी सीधी-साधी ज़िन्दगीमें जो दिलचस्पी और मौज़ूनियत थी वह फ़ना हो गयी। और जब रूहे-ज़िन्दगी ही बाक़ी न हो तो महज़ जी लेना क्या—

अफ़सोस, इलाहाबादकी आबो-हवा शुरूसे रास न आयी, आख़िर क्या फ़ैसला किया? 'नये घूँघट' का ज़िक्र बेवफ़ाईकी तल्क़ीन है। लेकिन बदल न सही वक़्त-गुज़ारी तो हो जायेगी, कि ज़िन्दगीके लिए एक सहारेकी ज़रूरत है। वह भी जब 'असाए-पीरी' का दौर हो। मैं आपके ख़यालात ज़रा तफ़सीलसे सुनना चाहता हूँ।"

खयालात तो आप सुनेंगे ही। लेकिन इन ही मौलवी सैयद मक़बूल अहमदके नाम ये पत्र तो सुन लें पहले। ये शायद पहला पत्र है जो इन्हें लिखा गया था—पहल करनेका ये ढंग अछूता भी है, खूबसूरत भी :

"प्यारे जनाब, जी चाहता था कि आपको बेतकल्लुफ़ाना मुख़ातिब करूँ। लेकिन शायद आप इसे गिरी हुई बात समझते, इसलिए मुझमें आपमें पहले समझौता होना चाहिए।

क्या आप वही साहब हैं जिनके वालिद गोरखपुरमें कभी डिप्टी कलक्टर थे? आपका हुलियए-मुबारक बूटा-सा क़द, छरेरा जिस्म (सुना अब नहीं रहा) और हिन्दी शाइरीका पसन्दीदा यानी कुछ दबता हुआ रंग; आज तक याद है।

आप सौदागर मुहल्लेके किसी मेहदी हसनसे वाक़िफ़ हैं जिसको आपके हम-सबक़ होनेकी मसर्रत—तौबा, इज़्ज़त हासिल थी?

अगर इसके जवाबमें आप 'हाँ' कह सकें तो बेवतनीमें अजनबीयत दूर करनेके लिए मामूली सहारा भी बहुत

होता है। आप तो फिर भी बड़ी चीज़ हैं।"

पर, मेरी मानें तो आप इसी एक बड़ी चीजपर न रह जायें। यहाँ तो कई और बड़ी चीजें आपको मिलेंगी। मुहम्मद अफ़राग़ उनके दोस्त थे जिनके बेटेसे मेहदी हसनकी बड़ी बेटी जमीला बेगम ब्याही गयीं। और इस तरह पुराने सम्बन्धमें कुछ नये तत्त्व भी मिल गये।

"प्यारे अफ़राग़, मैं दिली ख़ुलूसके साथ इस इज़ाफ़ेको देखता हूँ। जो तुम्हारे अलफ़ाज़में मेरे ख़ान्दानमें होनेवाला है। और शुकर है कि पुराने तअल्लुक़ातके लिहाज़से मैं कुछ खोता नहीं बल्कि एक जदीद उन्सर हासिल करनेवाला हूँ। और यही बड़ीसे-बड़ी ग़ायते-हस्ती है जो मेरी मुसलसल कामियाब और मौज़ूँ ज़िन्दगीकी ज़रूरी कड़ी भी।

तुम शौक़से आओ, जम जम आओ, डंकेकी चोट यानी तोंदपर हाथ फेरते हुए आओ। और अपनी जोड़ी यानी शैख़को भी लाओ। समझो या न समझो, मेरी दुनिया तुम ही दोनों तक महदूद है। ऊँचीसे-ऊँची सोसाइटीमें उठा-बैठा। बड़े-बड़े जगमगाते नज़्ज़ारे देखे, उम्र इसीमें गुज़री लेकिन क़सम लो अगर आँखें ख़ीरा हुई हों। बिजलीकी होशरुबा रौशनीमें बैठकर भी कभी अपने सादा चराग़ोंसे बेनियाज़ न हुआ। इससे ज़्यादा नुमाइशी दुनियामें हमसे क्या चाहते हो। अच्छे-अच्छोंको देखा आपेसे बाहर, सुबकसरीकी चलती-फिरती तसवीर बन जाते हैं। लेकिन मैं दो तरहके दाँत रखता हूँ—खानेके और दिखानेके और।

तुम्हारी भावज कहती हैं तक़रीबमें सरायवाली न हो तो भाँड़ तो हों। तुम दोनों आ जाओगे तो रौनक़ हो जायेगी।"

मेहदी जहाँ अच्छे दोस्त, सच्चे आशिक़ थे वहीं एक चाहनेवाले पति भी थे। जीवनके सौ बखेड़ोंमें भी राज़ो-नियाज़की वही बातें थीं जिन्हें सुनकर दिल आज भी मचल जाये :

"तुम मुझसे जमकर सीना-ब-सीना लड़नेपर तुली रहती हो, बे-इख़्तियार हँस पड़ता हूँ। मेरी एक बात भी जमने नहीं देतीं। इतनी शरारत सच बताओ कहाँसे सीखी? तुम्हारी इन ही अदाओंपर तो मरता हूँ।"

"तुम्हारी अख़लाक़ी और इन्तज़ामी ख़ूबियाँ इस लायक़ थीं कि कमसे-कम एक छोटी-सी रियासत तुम्हारे ज़ेरेनगीं होती। लेकिन ये मैंने क्या कहा? मेरा दिल, जिसकी तुम हुक्मराँ हो, जो सिर्फ़ तुम्हारी फ़तूहातके लिए आलमे-वजूदमें आया था, क्या एक सल्तनतसे कम है और क्या तुम अकेली इसकी मलिका नहीं हो?

जिस ख़लिशका तुमने ज़िक्र किया है, वह अब बाक़ी नहीं है। क्योंकि तुम्हारे असरसे बाहर रहना मेरे बसमें नहीं है। मेरी ज़िन्दगीके सख़्तसे-सख़्त उसूल भी तुम्हारे इशारोंपर टूट सकते हैं। और ये तो एक मामूली बात थी।"

मौलाना शिब्ली

# मौलाना शिब्ली

"शिब्ली यूनानी थे जो हिन्दुस्तानी मुसलमानोंमें पैदा हुए!" ये कथन मेरा नहीं, ख़ुर्शीदुल इस्लामका है। मैं तो उनकी महत्ताका कुछ और ही रूपसे क़ाइल हूँ।

शिब्ली एक मौलवी थे।

शिब्ली एक बड़े इतिहासकार थे।

शिब्ली एक शाइर थे।

मौलाना शिब्लीको मैं एक आदर-योग्य आलोचक भी मानता हूँ।

आप बुरा न मानें तो मैं उन्हें 'जीनियस' भी कह दूँ। अब ये और बात है कि इस शब्दमें किसी आलोचनात्मक तत्त्वका कोई पता नहीं चलता।

शिब्ली एक अच्छे पत्रकार भी थे—और सच पूछिए तो मैं उनकी अच्छाइयोंके सिलसिलेमें आपसे कहना केवल यही चाह रहा था। सो—

> "मुकर्रमा, इनायतनामा ऐन उस वक़्त मिला जब मैं हैदराबादसे रवाना हो रहा था और दोस्तोंकी भीड़ मुझे रुख़सत करनेके लिए जमा थी। उनमें मिस्टर शरर और मौलवी अज़ीज़ मिर्ज़ा भी थे। आपका ख़त मैंने उन लोगों-को पढ़कर सुनाया, उन लोगोंने आपकी इन्शापर्दाज़ीकी दाद दी।
>
> अफ़सोस है कि आपको ये ख़याल रहा कि मैं आपके ख़ुतूतका जवाब बेइलतिफ़ातीसे देता हूँ; उसपर ये सितम

कि आपने ये चोर आज तक छुपाये रखा। आपसे तो अज़ीज़ाना तअल्लुक़ात हैं, मैं तो बेगानोंके ख़तका जवाब भी जी लगाकर लिखता हूँ। ख़ैर, अब आपको शिकायतका मौक़ा न मिलेगा।

मिसेज़ अहमदीके मरनेका रंज किस क़दर हुआ कुछ कह नहीं सकता। ऐसे पाकीज़ा-अख़लाक़ लोग कहाँ पैदा होते हैं? मिस्टर अहमदीका पता क्या है कि उनको ताज़ियत-नामा लिख सकूँ?

"नाख़ान्दा मेहमान' का आपने सही मौक़ा नहीं समझा, इसलिए आपने और तरहपर माज़िरत की। वह फ़िक़रा आपसे नहीं बल्कि अतीयासे मुतअल्लिक़ था। और वह भी बम्बई आनेके लिए नहीं बल्कि ख़तो-किताबतके मुतअल्लिक़।

मुद्दतके बाद लखनऊ आया हूँ। बहुत-से काम जमा हो गये हैं, उनको समेटना है। सफ़रमें मेरा बड़ा हर्ज होता है। 'बूए-गुल' कहिए तो भेज दूँ।

शाइरी हक़ीक़तमें एक ख़ुर्दबीन है, जिसमें छोटी चीज़ें बड़ी बनकर नज़र आती हैं। उसको लोग मुबालग़ा कहते हैं, लेकिन वह मुबालग़ा नहीं, बल्कि उस ख़ुर्दबीनका असर है।

जनाब बेगम साहबकी ख़िदमतमें तस्लीमो-नियाज़!"

ये पत्र मौलाना शिब्लीने अतीयाकी बड़ी बहनको लिखा था। अतीया, जिससे बादमें शिब्लीकी प्रेम-कहानी चली।

कहा जाता है कि उस परिवारसे मौलानाके सम्बन्ध क़ुस्तुन्तुनियामें हुए थे जो मई १८९२ की बात है। उस समय अतीया एकाध बरसकी बच्ची थी। यह ख़ानदान बम्बईके पुराने ख़ानदानोंमें-से था। स्वयं अतीया

बेगमका कहना है कि : "मौलाना शिब्लीकी जब हमसे मुलाक़ात हुई तो हमारे उनके बीच कोई अजनबीयत न थी। वह १८९२ में जब अस्तम्बोल गये थे तो मेरे बाप हुसैन आफ़न्दी साहबने उनकी बहुत आवभगत की थी और अलीगढ़के प्रोफ़ेसरोंकी हैसियतसे कुछ लोगोंसे उनका परिचय भी कराया था। बहुत दिनों बाद जब पिताका देहान्त हो गया और मेरा परिवार स्थायी रूपसे बम्बईमें ही रहने लगा तो एक बार हम बहनोंको लखनऊ जानेका मौक़ा मिला। वहाँ शैख़ मुशीर हुसैनके घरपर मौलाना शिब्लीसे मुलाक़ात हुई जिनकी शुहरत हम सुन चुके थे। हम बहनें उनकी बातोंसे बहुत प्रभावित हुईं। उस वक़्त वह एक पुराने ख़यालके मौलवी मालूम होते थे। उसके बाद मौलाना बम्बई आये तो हम सबने बुज़ुर्ग और आलिम समझकर उनका स्वागत किया।" और जब वह वापस गये तो पत्र-व्यवहारका सिलसिला चल पड़ा :

> "तुम्हारा ख़त जो मुद्दतके बाद मिला तो बेसाख़्ता आँखोंसे लगाया और देर तक बार-बार पढ़ता रहा। अफ़सोस, देर तक मिलनेकी कोई उम्मीद नहीं। मैं वतन, अहबाब, आराम सब कुछ छोड़ सकता हूँ लेकिन एक मज़हबी काम क्योंकर छोड़ूँ? वरना बम्बई तो दो क़दमपर थी। ज़ुहरा साहबने मंज़ूर कर लिया है कि वह फिर कभी लखनऊ आयेंगी। तुम इतनी ग़रीब-नवाज़ी क्यों करोगी?"

अतीया ऊँचे परिवारकी लड़की थी। मौलाना उसे स्टेजपर बेपरदा आनेका सुझाव देते हैं :

> "मेरी स्कीम जो आपके मुतअल्लिक़ है वह योरपसे आनेके बाद क़ाबिले-इज़हार होगी। यानी मैं चाहता हूँ आप उन मशहूर औरतोंकी तरह स्पीकर और लेक्चरार बन जायें जो अँगरेज़ और पारसी क़ौममें मुम्ताज़ हो चुकी हैं। लेकिन उर्दूमें, कि हम लोग भी समझ सकें। आपमें हर

तरहकी क़ाबिलियत मौजूद है, सिर्फ़ मश्क़की ज़रूरत है। हम पुराने लोग आज़ादीसे बेपरदा मजमेमें तक़रीर करना पसन्द नहीं करते। लेकिन आप तो इस मैदानमें आ चुकी हैं। इसलिए अब जो कुछ हो कमालके दरजेपर हो।

अतीयाको आख़िरी हद तक ले जानेके लिए शिब्ली उसे केवल स्पीकर ही नहीं बनाते, संगीतकलाकी ओर भी उसे ले जाना चाहते हैं और वह भी यूँ :

"इन बातोंके साथ अगर तुम मूसीक़ीसे भी वाक़िफ़ हो तो तुम इजाज़त दो कि लोग तुमको पूजें—और वह पहला पुजारी मैं हूँगा।"

"गानेके ज़िक्रपर एक बात याद आयी जो मुद्दतोंसे दिलमें थी मगर कहनेकी हिम्मत न थी। मैंने तुमसे एक दफ़ा ख़्वाजा साहबके शेर सुने। तुमको .ख़ुदाने अच्छी आवाज़ अता की है। लेकिन अफ़सोस कि तुमको हिन्दुस्तानी मूसीक़ीसे वाक़फ़ियत नहीं, इसलिए तुम बिलकुल बेसुरा गा रही थीं। मूसीक़ीकी मालूमात ज़रूरी है, नहीं तो बेलुत्फ़ी पैदा होती है। बारहा तुमसे गाना सुननेको जी चाहा लेकिन रुक गया कि तुम्हारी गिटकिरी और तानें बेक़ाइदा थीं। बम्बईमें इस फ़नको लोग मुतलक़ नहीं जानते। यहाँतक कि जिनका पेशा है वह भी महज़ जाहिल हैं।"

औरतोंकी शिक्षापर बात चल पड़ी तो शिब्लीने अतीयाको लिखा :

"औरतोंके बारेमें तुम्हारी राय है कि वह दीनवी और मआशी उलूम कम पढ़ें और तुम इसको पसन्द नहीं करतीं कि औरतें .ख़ुद कमायें और खायें। लेकिन याद रखो मरदों-

ने जितने ज़ुल्म औरतोंपर किये इस बलपर किये कि औरतें उनकी दस्तनिगर थीं। तुम औरतोंका बहादुर और देवपैकर होना अच्छा नहीं समझती हो। लेकिन ये तो पुराना ख़याल था कि औरतोंको धान-पान छुई-मुई और रूईका गाला होना चाहिए। जमाल और हुस्न नज़ाकतपर मौक़ूफ़ नहीं। तनोमन्दी, दिलेरी, देवपैकरी और शुजाअतमें भी हुस्नो-जमाल क़ाइम रह सकता है। मर्दनुमा औरत ज़नाना नज़ाकतसे ज़्यादा महबूब हो सकती है।"

अतीया औरतको धान-पान ही रहने देना चाहती थी, वह औरतकी नज़ाकतकी क़ाइल थी। और शिब्लीके विचार उससे अलग थे :

"औरतोंकी देवपैकरीपर तुमने इतनी लम्बी तक़रीर लिखी लेकिन मेरी रायमें कोई तब्दीली नहीं हुई। ये तो मालूम है कि सेहतके लिए, तन्दुरुस्तीके लिए, जिस्मकी मौज़ूनीके लिए मर्दाना वरज़िशें मुफ़ीद हैं। जो कुछ बहस है ये है कि औरतोंके ज़नाना हुस्नमें फ़र्क़ आता है। लेकिन मैं कहता हूँ इससे जमाल और दोबाला हो जाता है।"

औरतके हट्टा-कट्टा शरीरपर मरनेवाले शिब्लीकी एक और कामना भी थी :

"असल ये है कि मैं चाहता था कि मेरे काममें तुम्हारे नामकी शिर्कत हो। इसका तरीक़ा तो ये था कि कोई तस्नीफ़ तुम्हारे नाम डेडिकेट करता, लेकिन अफ़सोस, नहीं कर सकता। जिन हालातमें घिरा हुआ हूँ तुम समझती हो और जानती हो कि उससे उन कामोंको नुक़सान पहुँच जायेगा जो मेरे हाथमें हैं।"

अपनी किसी रचनाको अतीयाके नाम डेडिकेट करनेकी कामना पूरी न हुई और अतीया एक यहूदी आरटिस्ट रहमीनसे ब्याह दी गयी तो

शिब्लीने मेहदी हसनको लिखा :

".कुरआनमें है कि यहूदी ज़लीलो-ख़्वार बना दिये गये। लेकिन क्या ५ दिसम्बर १९१२ के भी, जिस दिन कि अतीया एक यहूदीको हाथ आयी। मशहूर किया गया है कि वह मुसलमान हो गया है, इसलिए तो नहीं कि—

मैं हुआ काफ़िर तो वह काफ़िर मुसल्माँ हो गया।"

और अतीयाको ये कि :

"बुताने-हिन्द काफ़िर कर लिया करते थे मुसलिम को,
अतीया की बदौलत आज एक काफ़िर मुसल्माँ है।"

मौलाना शिब्ली संक्षिप्त पत्र लिखनेमें अपना जवाब नहीं रखते थे। मेहदी हसनकी बीवी उनके पत्रोंको 'तार' कहा करती थीं। पर दो-एक लम्बे-चौड़े पत्र भी उन्होंने लिखे हैं। और उन्हीं लम्बे-चौड़े पत्रोंमें एक ये पत्र भी है जो मौलानाने आज़मगढ़में एक घटनाका शिकार होकर लिखा था; जिस घटनामें मौलानाको अपने एक पाँवसे हाथ धोने पड़े थे :

"मैं अपने वतन आज़मगढ़ आया था और इरादा था कि महीने-दो-महीने यहाँ ठहरूँगा। 'शेरुल अज़म'के कुछ हिस्से ज़ेरे-तहरीर थे और 'शाहनामा'पर 'रिव्यू' कर रहा था। सत्रहवीं मई १९०७, क़रीबन दस बजे होंगे कि मैं दफ़्तरसे उठकर ज़नाना कमरेमें गया। अन्दर तख़्त बिछे हुए थे। मैं पाँव लटकाकर बैठ गया। तख़्तपर कारतूस-भरी हुई बन्दूक़ रखी थी, मैंने हाथमें उठा ली और फिर एक-दूसरे आदमीके हाथमें दे दी। इत्तफ़ाक़से घोड़ा गिर गया। बन्दूक़की ज़द ठीक मेरे पाँवपर थी। बन्दूक़की नालसे पाँव-तक सिर्फ़ एक बालिश्तका फ़ास्ला था। कारतूसमें छर्रे थे, लेकिन बड़े थे और फ़ास्ला बहुत कम था इसलिए टख़नेकी हड्डी बिलकुल चूर हो गयी। और पाँव कटकर सिर्फ़ दो

तस्मे लगे रह गये।

जिस वक़्त चोट लगी, मुझको सिर्फ़ इतना मालूम हुआ कि पाँवको एक झटका-सा लगा। कोई तक़लीफ़ नहीं महसूस हुई। और उस वक़्त मैंने घबराकर कहा कि ये क्या हुआ। आवाज़ सुनकर बाहरसे कुछ आदमी आ गये। उस वक़्त मैं उसी तरह पाँव लटकाये बैठा था और पाँव जूतेमें थे। एक अज़ीज़ने आकर मेरे पाँवपर हाथ रखा तो मैंने जूतेमें-से निकाल लिया। उस वक़्त पाँवकी एड़ी जूतेमें फँसकर रह गयी। मैंने पाँव ऊपर उठा दिया और नौकरों-से कहा, इसपर पानी डालो। पानी जब डाला जाता तो पाँवमें-से भक-भक धुआँ निकलता था। पाव घण्टे तक मैं पाँव उठाये बैठा रहा। जब पिण्डलियाँ दुखने लगीं तो मैंने आदमीसे कहा कि अब तकिया लाकर पाँव उसपर रख दो। आदमीने रोकर कहा कि क्या चीज़ है जो रखी जाये। मुझको उस वक़्त मालूम न था कि मेरी एड़ी जुदा होकर जूतेमें रह गयी है।''

और फिर मौलानाका एक पाँव काट दिया गया।

''आज नवाँ दिन है। डॉक्टर एक दिन बीचमें देकर ज़ख़्म खोलता है, धोता है और फिर बाँध देता है। तक-लीफ़में अभी कोई कमी नहीं है लेकिन ख़ुदाका शुक्र है कि इस वक़्त तक तबीयतकी तमानियत और सुकूनमें भी कोई कमी नहीं है। सोचता हूँ तो नज़र आता है कि जो आदमी सर काटे जानेके क़ाबिल हो उसके पाँव काटे गये तो क्या हुआ? ज़ाहिरी हालातके लिहाज़से भी तस्कीन है कि पचास बरससे भी ज़्यादाकी कुछ उम्र पायी। बहुत चला-फिरा, दौड़ा-धूपा, मिला-जुला! आख़िर कहाँतक? ख़ुद

पाँव तोड़कर बैठना चाहिए था; न बैठा तो क़िस्मतने बैठा दिया।"

इसी सिलसिलेमें, कोई तीन सप्ताह बाद मौलाना शिबलीको लिखते हैं :

"ज़ख़्मकी हालत दस रोज़ तक अच्छी थी लेकिन बादको रीम आने लगी और अबतक आती है। दिनमें दो बार ज़ख़्म धोया जाता है लेकिन अभी तक तकलीफ़में कोई कमी नहीं। तकलीफ़ सख़्त है, लेकिन हमारे ही बुज़ुर्ग थे जिन्होंने सर कटवाये थे : पाँव कटनेपर मैं क्या रोऊँ!"

पाँव कट जानेसे मौलानाके कामोंमें कोई कमी नहीं हुई बल्कि नक़ली पाँवसे मौलानाकी दौड़-धूप और भी बढ़ गयी। पर इस घटनाके सात बरस बाद जब मौलाना शिब्लीका देहान्त हुआ तो अतीया बेगमने अपनी ख़ानदानी डायरीमें लिखा :

मृत्यु मौलाना शिब्ली नोमानी—नवम्बर १९१४
मृत्यु मौलाना अलताफ़हुसैन 'हाली'—दिसम्बर १९१४
ये कैसे-कैसे लोग थे जो चले गये। और मौलाना शिब्ली तो हमारे दोस्त थे और हमेशा ये कहा करते थे कि—

यादगारे-ज़माना हैं हम,
सुन रखो एक फ़साना हैं हम।

इक़बाल

# इक़बाल

'इक़बाल'ने 'सैयद सुलेमान नदवी'को किसी पत्रमें लिखा था कि :

"मैं अपने दिल-व-दमाग़की सर-गुज़श्त[1] भी मुख्तसर तौरपर लिखना चाहता हूँ। और यह सर-गुज़श्त मेरे कलाम-पर रौशनी डालनेके लिए ज़रूरी है। मुझे यक़ीन है कि जो ख़यालात इस वक़्त मेरे कलाम और अफ़्कारके मुतअल्लिक़ लोगोंके दिलोंमें हैं इस तहरीरसे उनमें बहुत इनक़िलाब पैदा हो जायेगा।"

'इक़बाल' अपनी सर-गुज़श्त तो न लिख सके, लेकिन अपने ख़तोंमें कुछ खुल ज़रूर गये। वैसे इस खुलनेमें हलका-सा तकल्लुफ़ शामिल रहा :

"मैंने कभी अपने-आपको शाइर नहीं समझा। इस वास्ते कोई मेरा रक़ीब[2] नहीं और न किसीको अपना रक़ीब तसव्वुर करता हूँ। शाइरीसे मुझे दिलचस्पी नहीं रही, हाँ बाज़ ख़ास मक़सद[3] रखता हूँ जिनके बयानके लिए इस मुल्कके ख़ास हालातकी रूसे मैंने नज़्मका तरीक़ा इख़्तियार किया...."

"आपका नवाज़िश-नामा आज सुबह मिला। हक़ी-

---

१. हाल, २. दुश्मन, ३. उद्देश्य।

क़त यह है कि आज मुझे अपने टूटे-फूटे अशआरकी दाद[1] मिल गयी। बाज़ जगह जो तनक़ीद[2] आपने की है बिलकुल दुरुस्त है। लफ़्ज़ 'चुभ' के लिए .खुसूसियतसे आपका मशकूर हूँ, क्योंकि यह बात मेरे ख़याल में न थी''''आपने जो रिमार्क इन अशआरपर लिखे हैं उनके लिए मैं आपका तहे-दिलसे मशकूर हूँ। आप लोग न हों तो वल्लाह, हम शेर कहना छोड़ दें। अगरचे जलसेमें हर तरफ़से लोग इनकी तारीफ़ करते थे मगर जो मज़ा आपकी दादसे मिला है उसे मेरा दिल जानता है''''"

*— हबीबुर रहमान ख़ाँ के नाम*

इक़बालपर किसीने आलोचनाका यह ढंग निकाला कि जहाँ कहीं इक़बालकी कोई चीज़ किसी पत्रिकामें आयी और उसने उसपर संशोधन करके इक़बालको भेज दी। इक़बाल इसे कैसे बरदाश्त करते? अब्दुल-मजीद ख़ाँके नाम उन्होंने लिखा :

"यह कोई साहब 'छोटे' शिमलासे मेरी ग़ज़लकी इस-लाह[3] करके मेरे पास भेजते हैं। मेरी तरफ़से उनका शुक्रिया अदा कीजिए और अर्ज़ कीजिए कि बेहतर हो अगर आप 'मीर' और 'दाग़' की इसलाह किया करें। मुझ गुमनामकी इसलाह करनेसे आपकी शुहरत न होगी। मेरे बे-गुनाह अशआरको जो हज़रतने तेग़े-क़लमसे मजरूह किया है[4] उसका सिला[5] उन्हें .खुदासे मिले। मैं भी दुआ करता हूँ कि .खुदा उन्हें अक़्ल अता करे। मैंने ये दो हर्फ़ हमदर्दी-से लिख दिये हैं। उम्मीद है वह बुरा न समझेंगे। अक़सर इनसानोंको कुंजे-तन्हाईमें बैठे हमा-दानीका[6] धोखा हो जाता

१. प्रशंसा, २. आलोचना, ३. संशोधन, ४. लेखनीकी तलवारसे घायल किया है, ५. पुरस्कार, ६. तमाम बातें जाननेका।

है। उनका कोई .क़ुसूर नहीं...."

इक़बाल 'सर' बने ! ग़ुलाम भीक नैरंगको शक हुआ। कहीं अब इक़बालकी आवाज़ इस 'सर' के बोझके नीचे घुटकर न रह जाये। किन्तु इक़बालके पास इस 'सर' का महत्त्व ही क्या था :

> "मैं आपको इस एज़ाज़[1] की .ख़ुद ख़बर देता। मगर जिसके मैं और आप रहनेवाले हैं इस दुनियामें इस क़िस्मके वाक़यात एहसाससे फ़रोतर[2] हैं। सैकड़ों .ख़ुतूत और तार आये और आ रहे हैं और मुझे तअज़्ज़ुब हो रहा है कि लोग इन बातोंको इतना ऊँचा क्यों समझते हैं। बाक़ी रहा वह ख़तरा जिसका आपके दिलको एहसास हुआ है सो क़सम है .ख़ुदाकी जिसके कब्ज़ेमें मेरी जान और आबरू है और क़सम है उस बु.ज़ुर्ग-व-बरतरकी जिसकी वजहसे मुझे .ख़ुदापर ईमान नसीब हुआ और मुसलमान कहलाता हूँ, दुनियाकी कोई .क़ूवत मुझे हक़ कहनेसे बाज़ नहीं रख सकती..."

नवाब भोपालने अपनी इल्म-दोस्तीके नाते इक़बालको पेन्शन देनेका एलान किया। इक़बाल इसे अपने लिए मुनासिब नहीं समझते थे। 'सर रॉस मसऊद' के नाम ये ख़त इसी सिलसिलेमें लिखा गया :

> "आला हज़रत नवाब भोपालने जो रक़म मेरे लिए मुक़र्रर की है वह मेरे लिए काफ़ी है और अगर काफ़ी न भी हो तो मैं कोई अमीराना ज़िन्दगीका आदी नहीं। बेहतरीन मुसलमानोंने हमेशा सादा ज़िन्दगी बसर की है। ज़रूरतसे ज़्यादाकी हवस करना रुपयेका लालच है जो

---

१. सम्मान, २. भावनासे ऊँचे।

किसी तरह भी मुसलमानके शायाने-शान नहीं है। आपको मेरे इस ख़तसे यक़ीनन कोई तअज़्ज़ुब नहीं होगा क्योंकि जिन बुज़ुर्गोंकी आप औलाद हैं और जो हम सबके लिए ज़िन्दगीका नमूना हैं वह हमेशा सादा ज़िन्दगी बसर करते रहे हैं। इन हालातपर नज़र करते हुए मुझे इस रक़मको क़ुबूल करते हुए हिजाब[1] आता है।····अगर आपको इससे इत्तफ़ाक़[2] नहीं है और इस तजवीज़[3]को ड्रॉप करना नहीं चाहते तो फिर मैं एक तजवीज़ पेश करता हूँ और वह ये कि हिज़-हाईनेस आग़ा ख़ाँ ये पेन्शन मेरे बच्चे 'जावेद'को अता कर दें, उस वक़्त कि उसकी तालीमका ज़माना ख़त्म हो जाये या जिस-जिस वक़्त तक हिज़-हाईनेस मुनासिब तसव्वुर करें····"

"मख़दूमी,

तब्दीले-हवाके लिए शिमला चला गया था मगर वहाँ जाते ही तबीयत बिगड़ गयी। चार-पाँच रोज़के बाद वापिस आ गया। अब ख़ुदाके फ़ज़लसे अच्छा हूँ।

आपका हुस्ने-ज़न मेरी निस्बत बहुत बढ़ गया है। हक़ीक़तमें मैंने जो कुछ लिखा है उसकी निस्बत दुनिया-ए-शाइरीमें कुछ भी नहीं, और न कभी मैंने सीरियसली इस तरफ़ तवज्जुह की है। बहरहाल, आपकी इनायतका शुकर-गुज़ार हूँ। बाक़ी रहा ये कि बेदारी[4]का सेहरा मेरे सरपर है या होना चाहिए, इसके मुतअल्लिक़ क्या अर्ज़

---

१. शर्म, २. सहमति, ३. प्रस्ताव, ४. जागृति।

करूँ। मक़सद तो बेदारीसे था : अगर बेदारिये-हिन्दुस्तान-की तारीख़में मेरा नाम तक न आये तो मुझे इसका मलाल नहीं। लेकिन आपके इस रिमार्कसे मुझे तअज्जुब हुआ क्योंकि मेरा ख़याल था कि इस बातका शायद किसीको एहसास नहीं। मौलवी अबुल कलाम आज़ादके 'तज़किरा' का दीबाचा[1] लिखनेवाले बु.ज़ुर्गने जिन अल्फ़ाज़में मुहम्मद अली, शौकत अली और मेरी तरफ़ इशारा किया है, इनसे मेरे इस ख़यालको और तक़वियत[2] हो गयी है। लेकिन अगर किसीको भी इसका एहसास न हो तो मुझे इसका रंज नहीं। क्योंकि इस मुआमलेमें ख़ुदाके फ़ज़लसे बिल-कुल बेग़रज़ हूँ।

मालूम नहीं कौन-सा शेर आपके पास अमानत है, अच्छा है छाप दीजिए।"

—सम्पादक 'नैरंग'के नाम

और अब अन्तमें एक ये ख़त देख लें जो इक़बालने मुन्शी मुहम्मद दीन फ़ौक़को कैम्बरिजसे लिखा था :

"मख़दूम व मुकर्रम अस्सलाम-अलैकुम,

मैंने आपसे वादा किया था कि सुएज़ पहुँचकर दूसरा ख़त लिखूँगा। मगर चूँकि अदनसे सुएज़ तकके हालात बहुत मुख़्तसर थे इस वास्ते मैंने यही मुनासिब समझा कि लन्दन पहुँचकर मुफ़स्सिल वाक़यात अर्ज़ करूँगा। मेरे पास एक काग़ज़ था जिसपर नोट लेता जाता था मगर अफ़सोस है कि वह काग़ज़ कहीं खो गया। यही वजह

१. भूमिका, २. पुष्टि।

मेरे अबतक ख़ामोश रहनेकी थी। शैख़ अब्दुल क़ादिर साहबकी मारफ़त आपकी शिकायत पहुँची। कल एक प्रायवेट ख़त मैंने आपके नाम लिखा था। दोनों ख़त आपको एक ही वक़्तमें मिलेंगे।

अदनमें पुराने ईरानी बादशाहोंके बनाये हुए तालाब हैं और यह इस तरह बनाये गये हैं कि एक दफ़ाकी बारिशका तमाम पानी हर जगहसे ढलकर उसमें जा गिरता है। चूँकि मुल्क ख़ुश्क है इसलिए ऐसी तामीरकी सख़्त ज़रूरत थी। मैं गरमीकी वजहसे अदनकी सैर न कर सका और इंजीनियरोंके इस हैरतनाक करिश्मे[1] के नज़्ज़ारेसे महरूम रहा।

जब हम सुएज़ पहुँचे तो मुसलमानोंकी एक बड़ी तादाद जहाज़पर आ मौजूद हुई और जहाज़के तख़्तेपर एक तरहका बाज़ार लग गया। इन लोगोंकी फ़ितरतमें मैलाने-तिज़ारत[2] है; और क्यों न हो? इनही के आबाव-अजदाद[3] थे जिनके हाथोंमें कभी यूरोप और एशियाकी तिजारत थी। 'सुलेमाने-आज़म' इन ही में एक शहन्शाह था जिसकी वुसअते-तिजारत[4] ने हिन्दुस्तानकी एक नयी राह दरयाफ़्त की थी। कोई फल बेचता है कोई पोस्टकार्ड दिखाता है। कोई मिस्रके पुराने बुत बेचता है और साथ ही यह भी कहता जाता है कि यह ज़रा-सा बुत अट्ठारह हज़ार बरसका है जो अभी खण्डहर खोदनेपर निकला है। यह लोग गाहकोंको 'क़ैद' कर लेनेमें कोई बात उठा नहीं रखते। इन ही लोगोंमें एक जादूगर भी है कि एक मुरग़ीका

---

१. चमत्कार, २. व्यापारकी अभिरुचि, ३. पूर्वज, ४. व्यापारके विस्तार।

बच्चा हाथमें लिये है और किसी नामालूम तरकीबसे एकके दो बनाकर दिखाता है। एक नौजवान मिस्री दूकानदारसे मैंने सिग्रेट ख़रीदने चाहे और बातों-बातोंमें उससे कहा कि मैं मुसलमान हूँ मगर मेरे सरपर चूँकि टोपी थी उसने माननेमें तअम्मुल[1] किया। और मुझसे कहा कि तुम हैट क्यों पहनते हो? मैंने जवाब दिया कि हैट पहननेसे क्या इस्लाम तश्रीफ़ ले जाता है? कहने लगा कि अगर मुसलमानकी दाढ़ी मुँड़ी हो तो उसको तर्किश टोपी ज़रूर पहनना चाहिए, वरना फिर इस्लामकी अलामत[2] क्या होगी? ख़ैर आख़िर यह शख़्स मेरे इस्लाम-का क़ाइल हुआ। मैंने चन्द आयात क़ुरआन-शरीफ़की पढ़ीं तो बहुत ख़ुश हुआ और मेरे हाथ चूमने लगा। बाक़ी तमाम दूकानदारोंको मुझसे मिलाया और वह सब लोग मेरे गिर्द हलक़ा बाँधकर "माशा अल्ला, माशा अल्ला!" कहने लगे और मेरी ग़रज़े-सफ़र[3] मालूम करके दुआएँ देने लगे। या यों कहिए कि दो-चार मिनिटके लिए वह तिजारतकी पस्ती[4] से उभरकर इस्लामी अख़ुवत[5] की बलन्दीपर जा पहुँचे। थोड़ी देरके बाद मिस्री नौजवानोंका एक निहायत ख़ूबसूरत गिरोह जहाज़की सैरके लिए आया। मैंने जब नज़र उठाकर देखा तो उनके चेहरे इस क़दर मानूस[6] मालूम होते थे कि मुझे एक सेकेण्डके लिए अलीगढ़ कॉलेजके डिपुटेशनका शुब्हा हुआ। यह लोग जहाज़के एक किनारेपर खड़े होकर बातें करने लगे और मैं भी उनमें जा घुसा, देर तक बातें होती रहीं।

---

१. संकोच, २. चिह्न, ३. यात्राका उद्देश्य, ४. व्यापारकी गिरावट, ५. भाई-चारे, ६. जाने-पहचाने।

**आख़िर मुसलमानोंके इस गिरोहको छोड़कर हमारा जहाज़ रुख़्सत हुआ और सुएज़ कनालमें दाख़िल हुआ....''**

'आले अहमद सुरूर' के शब्दोंमें इक़बालके पत्र, शैलीके लिहाज़से कोई बड़ा महत्त्व नहीं रखते। इस तरह ये ग़ालिबके ख़तोंके बराबर नहीं, मगर इनसे ग़ालिबके ख़तोंसे कम मालूमात शाइरके बारेमें नहीं मिलतीं। और यह इक़बालके साफ़, स्पष्ट और आईनेकी तरह उज्ज्वल दिमाग़की अच्छी तसवीरें हैं।

मौलाना अबुल कलाम 'आज़ाद'

# मौलाना अबुल कलाम आज़ाद

पत्र एक स्पन्दित जीवन रखते हैं—जीवन जिसमें छोटी-बड़ी ख़ुशियों, आशाओं, निराशाओं और घटनाओंकी छाया झिलमिलाती रहती है। अच्छा पत्र न केवल इनका विषय बनता है, बल्कि एक बड़ा पत्रकार अपने आस-पास उठती हुई इन लहरोंको समेट भी लेता है।

मौलाना आज़ादने अपने बोझल दुःखोंकी ये कहानी उन दिनों लिखी, सन्तोषकी थकानपर अपनी क़लम उस वक़्त चलायी जब ८ अगस्त ४२ में मौलानाके सभापतित्वमें काँग्रेसने बम्बईमें अँगरेज़ोंसे सम्बन्धित 'हिन्दुस्तान छोड़ दो' का प्रस्ताव पास किया और मौलाना वर्किङ् कॅमेटीके मेम्बरोंके साथ क़ैद होकर अहमदनगरके ऐतिहासिक क़िलेमें बन्द कर दिये गये। ये पत्र जिन्हें लिखे गये, वह थे मौलानाके सदीक़े मुकर्रम[1] हबीबुर रहमान ख़ाँ शिर्वानी। मौलानाने उन्हें ऐतिहासिक क्षणोंमें लिखा :

> "दूसरे दिन यानी १० अगस्तको हस्बे-मामूल[2] सुबह तीन बजे उठा। चायका सामान जो सफ़रमें साथ रहता है वहाँ भी सामानके साथ आ गया था। मैंने चाय दम दी, फिंजान सामने रखा और अपने ख़यालातमें डूब गया। ख़यालात मुख़्तलिफ़ मैदानोंमें भटकने लगे थे कि अचानक वह ख़त जो तीन अगस्तको रेलमें लिखा था और काग़ज़ातमें पड़ा था याद आ गया। बे-इख़्तियार जी चाहा कि कुछ देर आपकी मुख़ातिबतमें बसर करूँ[3]। आप सुन रहे हों

---

१. मान्य मित्र, २. यथा पूर्व, ३. आपसे बातें करूँ।

या न सुन रहे हों मगर रूये-सुख़न[1] आप ही की तरफ़ है।"

और इस तरह हर रोज़ मौलाना अपने मान्य मित्रकी कल्पना करके कहानी सुनाते रहे जो काग़ज़पर बिखरती रही :

"....मैंने अभी होश भी नहीं सँभाला था कि लोग पीर-ज़ादा समझकर मेरे हाथ-पाँव चूमते थे और हाथ बाँध-कर सामने खड़े रहते थे। ख़ान्दानी पेशवाई[2] व मशीख़त[3] की इस हालतमें नौ उम्र तबीअतोंके लिए बड़ी आज़माइश होती है। अकसर हालतोंमें ऐसा होता है कि इबतिदा[4] ही से तबीअतें बरख़ुद ग़लत हो जाती हैं और नसली ग़ुरूर[5] और ख़ुदपरस्तीका वही रोग लग जाता है जो ख़ान्दानी अमीरज़ादोंकी तबाही का बाइस[6] हुआ करता है। मुमकिन है इसके कुछ-न-कुछ असरात[7] मेरे हिस्सेमें भी आये हों क्योंकि अपनी चोरियाँ पकड़नेके लिए ख़ुद अपने कमीन[8] में बैठना आसान नहीं।

लेकिन जहाँतक अपनी हालतका जाइज़ा लेता हूँ मुझे यह कहनेमें[9] तअम्मुल नहीं कि मेरी तबीअतकी क़ुदरती उफ़्ताद[10] मुझे बिलकुल ही दूसरी तरफ़ ले जा रही थी। मैं ख़ान्दानी मुरीदोंकी इन अक़ीदतमन्दाना परस्तारियों[11]-से ख़ुश नहीं होता था; कोई ऐसी राह निकल आये कि इस फ़िज़ासे बिलकुल अलग हो जाऊँ और कोई आदमी आकर मेरे हाथ-पाँव न चूमे! लोग यह कमयाब[12] जिन्स

---

१. बातकी दिशा, २. अगवानी, ३. उच्चता, ४. प्रारम्भ, ५. वंशका अहंकार, ६. कारण, ७. प्रभाव, ८. दुश्मनकी घातमें छुपकर बैठनेकी जगह, ९. हिचक, १०. स्वाभाविक योग्यता, ११. अन्धश्रद्धा, १२. कम मिलनेवाली।

ढूँढ़ते हैं और नहीं मिलती, मुझे घर बैठे मिली और उसका क़द्रशनास[1] न हो सका।"

बड़ा ही प्राचीन, बहुत ही घुटा हुआ माहौल था मौलानाका। परन्तु आज़ादकी महत्ताका राज़ यह है कि वह अपने बाप-दादाके विश्वासपर टिक न सके, जिसका इज़्हार हमें ११ अगस्त, सन् '४२ वाले पत्रमें, कुछ यों मिलता है :

"लेकिन मैं मौरूसी अक़ाइद[2] पर क़नाअत[3] न कर सका। मेरी प्यास उससे ज़्यादा निकलती जितनी सैराबी[4] वह दे सकते थे। मुझे पुरानी राहोंसे निकलकर ख़ुद अपनी राहें ढूँढ़नी पड़ीं—ज़िन्दगीके अभी पन्द्रह बरस भी पूरे नहीं हुए थे कि तबीअत नयी ख़लिशों[5] और जुस्तजूओं[6] से आशना हो गयी थी और मौरूसी अक़ाइद जिस शक्ल और सूरतमें सामने आ खड़े हुए थे उनपर मुत्मइन[7] होनेसे इनकार करने लगी थी।"

और तब :

"मुझे अच्छी तरह याद है कि तबीअतका सुकून हिलना शुरू हो गया और शको-शुब्हेके काँटे दिलमें चुभने लगे। ऐसा महसूस होता था कि जो आवाज़ें चारों तरफ़ सुनाई दे रही हैं उनके अलावा भी कुछ और होना चाहिए। और इल्मो-हक़ीक़त[8] की दुनिया सिर्फ़ इतनी ही नहीं है जितनी सामने आ खड़ी हुई है। यह चुभन उम्रके साथ-साथ बराबर बढ़ती गयी यहाँतक कि चन्द बरसोंमें अक़ाइदो-अफ़्कार[9] की वह तमाम बुनियादें जो ख़ान्दान,

---

१. क़द्र जाननेवाला, २. विश्वासों, ३. टिकाव, ४. पिपासा-शान्ति, ५. चुभने, ६. खोजों, ७. सन्तुष्ट, ८. ज्ञान और सचाई, ९. विश्वासों और ख़यालातों।

तालीम और गिरदो-पेश[1] ने चुनी थीं ब-इकदफ़ा मुतज़लज़ल हो गयीं[2] और फिर वह वक्त आया कि इस हिलती हुई दीवारको खुद अपने हाथों ढाकर उसकी जगह नयी दीवारें चुननी पड़ीं।"

वातावरण, परिवार और शिक्षाकी इन दीवारोंको हिलानेवाले सन्देहों-को जिन भावनाओंने उभारा वह बड़ा महत्त्व रखती हैं कि उन्हींके कारण मौलानामें पूरे भारतीय जीवनकी समस्याको समझनेकी दृष्टि पैदा हुई, और यही शंकाएँ थीं जिन्होंने विश्वासकी राह दिखायी :

"शककी यही चुभन थी जो तमाम आनेवाले यकीनों के लिए दलीले-राह बन बिला शुब्हा इसने पिछले सर-मायों[3] से तही-दस्त[4] कर ... नये सरमायोंके हुसूलकी लगन भी लगा दी थी। और बिल-आख़िर उसीकी रहनुमाई थी जिसने यक़ीन और तमानियत[5] की मंज़िले-मक़सूद तक पहुँचा दिया।"

परन्तु मंज़िलका यह रास्ता तो काल-कोठरीसे होकर गुजरता है :

"वक्तके हालात हमें चारों तरफ़से घेरे हुए हैं। उनमें इस मुल्कके बाशिन्दोंके लिए ज़िन्दगी बसर करनेकी दो ही राहें रह गयी हैं। बेहिसी[6] की ज़िन्दगी बसर करें या एहसासे-हालकी। पहली ज़िन्दगी हर हालमें और हर जगह बसर की जा सकती है मगर दूसरीके लिए क़ैदखानेकी कोठरीके सिवा और कहीं जगह न निकल सकी। हमारे सामने भी दोनों राहें खुली थीं। पहली हम इख़्तियार नहीं कर सकते थे, नाचार दूसरी इख़्तियार करनी पड़ी।"

---

१. चारों ओर, २.हिल गयीं, ३. पूँजी, ४. खाली हाथ, ५.आस्था, ६.संज्ञाहीनता।

"दो बजे हम अहमदनगर पहुँचे और पन्द्रह मिनिटके बाद किलेके अन्दर महबूस[१] थे। अब उस दुनियामें जो किलेसे बाहर थी और इस दुनियामें जो क़ैदख़ानेके अन्दर थी बरसोंकी मुसाफ़त हायल हो गयी।"

और जहाँ :

"पाँच बजेसे किलेमें टैंकोंके चलानेकी मश्क़ शुरू होती है और घिर-घिरकी आवाज़ आने लगती है मगर उसमें अभी देर है। चार बजे दूधकी लारी आती है और चन्द लम्होंके लिए सुबहका सुकून हंगामेसे बदल देती है। वह अभी चन्द मिनिट हुए आयी थी और वापस गयी। अगर इस वक़्तके सन्नाटेमें कोई आवाज़ मुख़िल[२] हो रही है तो वह सिर्फ़ जवाहरलालके हलके ख़र्राटोंकी आवाज़ है। वह हम्साए[३]में सो रहे हैं, सिर्फ़ लकड़ीका एक परदा हायल है। ख़र्राटे जब थकते हैं तो हस्बे-मामूल नींदमें बड़बड़ाने लगते हैं। यह बड़बड़ाना हमेशा अँगरेज़ीमें होता है।"

"बारहा ऐसा हुआ कि मैं अपने ख़यालातमें महव[४] लिखनेमें मशग़ूल हूँ, इतनेमें कोई दिलनशीं[५] बात नोके-क़लमपर आ गयी या इबारतकी मुनासिबतने अचानक कोई पुरकैफ़[६] शेर याद दिला दिया और बे-इख़तियार उसकी कैफ़ियतकी ख़ुद रफ़्तगीमें मेरा सर व शाना हिलने लगा, या मुँहसे 'हा' निकल गया, तो यकायक ज़ोरसे परोंके उड़नेकी एक फुर-सी आवाज़ सुनाई दी। अब जो देखता हूँ तो मालूम हुआ कि इन याराने-बेतकल्लुफ़[७]का एक ताइफ़ा[८]

१. क़ैद, २. बाधक, ३. पड़ोस, ४. तल्लीन, ५. रोचक, ६. आनन्ददायक, ७. बेतकल्लुफ़ मित्रों, ८. जमघटा।

मेरी बग़लमें बैठा बेतअम्मुल[1] अपनी उछल-कूदमें मश्ग़ूल था। अचानक उन्होंने देखा कि यह पत्थर अब हिलने लगा है तो घबराकर उड़ गये। अजब नहीं अपने जीमें कहते हों यहाँ सोफ़ेपर एक पत्थर पड़ा रहता है लेकिन कभी-कभी आदमी बन जाता है!"

और तब, इस काल-कोठरीमें रहकर मौलानाकी दृष्टिमें कुछ और विस्तार पैदा हुआ। चिड़ियाके बच्चेके धीरे-धीरे उड़नेकी क्रियासे वह न केवल प्रभावित हुए बल्कि इस अवलोकनने उन्हें एक नयी शिक्षा भी दी :

"दर-अस्ल यह कुछ न था, ज़िन्दगीकी करिश्मा-साज़ियोंका एक मामूली-सा तमाशा था जो हमेशा हमारी आँखोंके सामनेसे गुज़रता रहता है मगर हम उसे समझना नहीं चाहते। इस चिड़ियाके बच्चेमें उड़नेकी इस्तेदाद[2] उभर चुकी थी। वह अपने कुंजे-नशेमन[3] से निकलकर फ़िज़ाए-आस्मानीके सामने आ खड़ा हुआ था। मगर अभी-तक उसको ख़ुद-शनासी[4] का एहसास बेदार[5] नहीं हुआ था। वह अपनी हक़ीक़तसे बेख़बर था। माँ बार-बार इशारे करती थी, हवाकी लहरें बार-बार परोंको छूती हुई गुज़र जाती थीं, ज़िन्दगी और हरकतका हंगामा हर तरफ़से आ-आकर बढ़ावे देता था, लेकिन उसके अन्दरका चूल्हा कुछ इस तरह ठण्डा हो रहा था कि बाहरकी कोई गरमजोशी उसे गरम नहीं कर सकती थी।

"लेकिन ज्यों ही उसकी ख़ुद-शनासी[4] जो सोयी हुई

---

१. निश्चिन्त, २. योग्यता, ३. झोंपड़े, ४. अपनेको पहचानना, ५. जाग्रत।

थी, जाग उठी और उसे इस हक़ीक़तका इरफ़ान[1] हासिल हो गया कि मैं 'उड़नेवाला परिन्दः हूँ, अचानक क़ालिबे-बेजानकी[2] हर चीज़ अज़ सरे नौ जानदार बन गयी। वही जिस्मे-ज़ार जो बे-ताक़तीसे खड़ा नहीं हो सकता था अब सर्व-क़द[3] खड़ा था, वही काँपते हुए घुटने जो जिस्मका बोझ भी सहार नहीं सकते थे अब तनकर सीधे हो गये थे, वही गिरे हुए पर जिनमें ज़िन्दगीकी कोई तड़प दिखाई नहीं देती थी अब समट-समटकर अपने-आपको तौलने लगे थे। चश्मे-ज़दन्[4] के अन्दर जोशे-परवाज़को एक बर्क़वार[5] तड़पने उसका पूरा जिस्म हिलाकर उछाल दिया। और फिर जो देखा तो दरमाँदगी[6] और बेहालीके सारे बन्धन टूट चुके थे और मुर्ग़हिम्मत उक़ाबवार फ़ज़ाए लामतनाहीकी ला-इन्-तहाइयोंकी पैमाइश[7] कर रहा था....''

और यहीं, इसी कालकोठरीमें मौलानाको अपनी बीवीकी मौतका ग़म भी झेलना पड़ा। ज़ुलैख़ा जो कुछ दिनोंसे बीमार चली आ रही थीं, अब मौलानाको देखनेके लिए तड़प रही हैं और मौलानाको इसकी आज्ञा भी मिल सकती है कि वह जाकर देख आयें, लेकिन हुकूमतसे वह इसकी प्रार्थना करना अपनी तौहीन समझते हैं, यहाँ तक कि ज़ुलैख़ाकी मृत्यु हो जाती है और मौलाना बहुत सब्रके साथ यह ख़बर सुनते हैं और ख़ामोश हो जाते हैं। नियाज़ फ़तहपुरीने कभी इस बातकी चर्चा करते हुए कहा था कि कैसी समझमें न आनेवाली बात है यह, लेकिन मौलाना-की ज़िन्दगीमें और बहुत-सी बातें हमें ऐसी ही नज़र आती हैं जिनको समझे बग़ैर ही समझना पड़ता है। और मैं कहूँगा कि मौलानाका प्यार

---

१. ज्ञान, २. बेजान जिस्म, ३. सीधा, ४. आँख झपकते, ५. बिजलीकी तरह, ६. थकान, ७. उक़ाब पक्षीकी तरह आकाशमें अनन्तताका माप।

भी विदेशी राज्यके बोझ तले पड़ा कराह रहा था। ११ अप्रैल सन् '४३ वाले पत्रमें यह कराह साफ़ सुनी जा सकती है :

"दस बजे हस्बे-मामूल बिस्तरपर लेट गया था। लेकिन आँखें नींदसे आशना नहीं हुईं। इन आठ महीनोंमें जो यहाँ गुज़र चुके हैं यह छठी रात है जो इस तरह गुज़र रही है, और नहीं मालूम और कितनी रातें इसी तरह गुज़रेंगी। मेरी बीवीकी तबीयत कई सालसे अलील थी। सन् '४१ में जब मैं नैनी जेलमें था तो इस ख़यालसे कि मेरे लिए तश्वीश ख़ातिरका मूजिब[1] होगा मुझे इत्तिलाअ नहीं दी। मुझे क़ैदख़ानेमें उसके ख़ुतूत मिलते रहे उनमें सारी बातें होती थीं लेकिन अपनी बीमारीका हाल नहीं होता था······और इस तरह हमारी छब्बीस बरसकी इज़दिवाजी ज़िन्दगी[2] ख़त्म हो गयी और मौतकी दीवार हम दोनोंमें हाइल हो गयी। यहाँ अहातेके अन्दर एक पुरानी क़ब्र है, नहीं मालूम किसकी है। जबसे आया हूँ सैकड़ों मर्तबा उसपर नज़र पड़ चुकी है लेकिन अब उसे देखता हूँ तो ऐसा महसूस होता है जैसे एक नये तरहका उन्स[3] उससे तबीयतको पैदा हो गया हो। कल शामको देर तक उसे देखता रहा और 'ज़मम बिन नवीरा'का मरसिया[4] जो उसने अपने भाई 'मालिक'की मौतपर लिखा था, बे-इख़्तियार याद आ गया।"

मौलाना आज़ाद एक तौरपर दार्शनिक थे, परन्तु वह जीवनकी रंगीनियोंसे आनन्दित भी होते रहे। और यहाँ, आज़ादके मुक़ाबलेमें मुझे केवल एक ही वैज्ञानिक दिखाई देता है और वह है चीनी वैज्ञानिक 'लिन-

---

१. चिन्ताका कारण, २. विवाहित जीवन, ३. लगाव, ४. शोक काव्य।

यु-तांग। आज़ाद और लिन-यु-तांगमें बड़ी समानता है: दोनोंके यहाँ जीवन गुज़ारनेका बड़ा ख़ूबसूरत अन्दाज़ मिलता है, दोनोंने सौन्दर्य-भावनाओंसे न केवल अपने मनको उजाल दिया है बल्कि इन सौन्दर्य-भावनाओंसे अपनी तनहाईको सजाया भी है, और फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि दोनोंने गद्यमें कविता की है।

'गुबारे-ख़ातिर'में एक प्रिय विषय है चाय पीनेका मसला:

> "वही चार बजेका जाँ फ़िज़ा वक़्त है, चायका फ़िंजान सामने धरा है और तबीयत दराज़नफ़सीके लिए बहाने ढूँढ़ रही है....गिरफ़्तारीके दूसरे ही दिन जब हस्बे-मामूल अलस्सबाह उठा और जाम-व-मीनाका दौर गरदिशमें आया तो महसूस होने लगा जैसे तबीयतका सारा इनक़िबाज़[1] अचानक दूर हो रहा हो और अफ़सुर्दगी-व-तंगीकी जगह इनुशराह-व-शगुफ़्तगी[2] दिलके दरवाज़ेपर दस्तक दे रही हो...."

> "एक मुद्दतसे जिस चीनी चायका आदी हूँ वह व्हाइट जैसमिन कहलाती है। जिसे ठेठ उर्दूमें 'गोरी चमेली' कह लीजिए। इसकी ख़ुशबू जिस क़दर लतीफ़ है उतना ही कैफ़[3] तुन्दो-तेज़[4] है। रंगतकी निस्बत क्या कहूँ? लोगोंने आतशे सैयाल[5]का ताबीरसे काम लिया है लेकिन आगका तख़ैयुल[6] फिर अरज़ाँ[7] है और यह चाय कुछ और नाम चाहती है। मैं सूरजकी किरनोंको मुट्ठीमें बन्द करनेकी कोशिश करता हूँ और कहता हूँ कि यों समझिए कि

१. मलिनता, २. प्रफुल्लता, ३. आनन्द, ४. कड़वा, ५. पिघली हुई आग, ६. कल्पना, ७. बनावटी उपमा।

जब किसीने सूरजकी किरनें हल[1] करके बिल्लूरीं फ़िंजान[2] में घोल दी हों....''

और अब, एक जगह वह प्राकृतिक दृश्य सामने आता है :

"कार बाहर निकली तो सुबह मुसकरा रही थी। सामने देखा तो समन्दर उछल-उछलकर नाच रहा था। नसीमे-सुब्हके झोंके अहातेकी रविशोंमें फिरते हुए मिले, यह फूलोंकी .खुशबू चुन-चुनकर जमा कर रहे थे और समुन्दरको भेज रहे थे कि अपनी ठीकरोंसे फ़िज़ामें फैलाता रहे।"

और फूलोंका यह वर्णन भी तो मिलता है जिसपर एक अच्छीसे-अच्छी कविता भेंट की जा सकती है :

"कोई फूल याक़ूतका कटोरा था कोई नीलमकी प्याली थी। किसी फूलपर गंगा-जमनीकी क़लमकारी की गयी थी, किसीपर छींटकी तरह रंग-बरंगकी छपाई हो रही थी। बाज़ फूलोंपर रंगकी बूँदें कुछ इस तरह पड़ गयी थीं कि ख़्याल होता था सन्नाए-.कुदरतके लौह क़लममें रंग ज़्यादा भर गया होगा, साफ़ करनेके लिए झटकना पड़ा और उसकी छींटें क़बाए-गुलके दामनपर पड़ गयीं।"

और अब :

"मैं आपसे एक बात कहूँ। मैंने बारहा अपनी तबीयतको टटोला है। मैं ज़िन्दगीकी एहतियाजों[3] में-से हर चीज़के बग़ैर .खुश रह सकता हूँ लेकिन मूसीक़ी[4] के बग़ैर नहीं रह सकता। आवाज़े-.खुश मेरे लिए ज़िन्दगीका सहारा, दमाग़ी काविशोंका मदावा और जिस्मो-दिलकी सारी

---

१. घोल-पीस, २. प्याली, ३. ज़रूरतों, ४. संगीत।

बीमारियोंका इलाज है! यहाँ अहमदनगरके क़ैदख़ानेमें अगर किसी चीज़का .फुक़्दान[1] मुझे हर शाम महसूस होता है तो वह रेडियो सेटका .फुक़्दान है।"

एक अच्छी आवाज़ जिसे मौलानाने जिस्मो-दिलकी सारी बीमारियों-का इलाज बताया है, मेरे नज़दीक तो वही सौन्दर्य-भावनावाली बात ठहरी है। और यह मौलानाकी संगीतसे बढ़ी हुई अभिरुचि ही तो थी जिसने औरंगज़ेब और ज़ैनाबादीकी प्रेमकथा सुनाते हुए हमें संगीतकी कई और जादूगरीको भी दिखाया है। परन्तु स्वयं मौलाना आज़ादका इस कलासे जो सम्बन्ध रह चुका है उसे आप उन्हींकी ज़बानी सुनें :

"जिस ज़मानेमें मूसीक़ीका इश्तग़ाल[2] जारी था तबीयतकी .ख़ुद-रफ़्तगी और महवीयतके बाज़ नाक़ाबिले फ़रामोश अहवाल पेश आये जो अगरचे .ख़ुद गुज़र गये लेकिन हमेशाके लिए दामने-ज़िन्दगीपर अपना रंग छोड़ गये। उसी ज़मानेका एक वाक़िआ है कि आगराके सफ़रका इत्तफ़ाक़ हुआ। अप्रैलका महीना था और चाँदनीकी ढलती हुई रातें थीं। जब रातका पिछला पहर शुरू होनेको होता तो चाँद पर्दए-शब हटाकर यकायक झाँकने लगता। मैंने ख़ास तौरपर कोशिश करके ऐसा इन्तज़ाम कर रखा था कि रातको सितार लेकर 'ताज' चला जाता और उसकी छतपर जमनाके रुख़ बैठ जाता। फिर ज्योंही चाँदनी फैलने लगती, सितार-पर कोई गत छेड़ देता और उसमें महव हो जाता। क्या कहूँ और किस तरह कहूँ कि फ़रेबे-तख़ैयुलके कैसे जलवे इन्हीं आँखोंके आगे गुज़र चुके हैं।

रातका सन्नाटा, तारोंकी छाँव, ढलती हुई चाँदनी

---

१. अभाव, २. संलग्नता।

और अप्रैलकी भींगी हुई रात। चारों तरफ़ ताजकी मिनारें सर उठाये खड़ी थीं, बुरजियाँ दम-ब-.खुद[1] बैठी थीं। बीचमें चाँदनीसे धुला हुआ मर्मरीं गुम्बद अपनी कुरसीपर बेहिसो-हरकत मुतमक्किन था। नीचे जमनाकी रुपहली जद्वलें बल खा-खाकर दौड़ रही थीं और ऊपर सितारोंकी अनगिनत निगाहें हैरतके आलममें तक रही थीं। नूरो-.जुल्मत[2] की इस मिली-जुली फ़िज़ामें अचानक परदाहाए-सितारसे नालाहाए-बे-हर्फ़ उठते और हवाकी लहरोंपर बे-रोक तैरने लगते। आस्मानसे तारे झड़ रहे थे और मेरी उँगलीके ज़ख्मोंसे नग़मे।

कुछ देर तक फ़ज़ा थमी रहती, गोया कान लगाकर ख़ामोशीसे सुन रही है, फिर आहिस्ता-आहिस्ता हर तमाशाई हरकतमें आने लगता। चाँद बढ़ने लगता, यहाँतक कि सरपर आ खड़ा होता। सितारे दीदे फाड़-फाड़कर तकने लगते। दरख्तोंकी टहनियाँ कैफ़ियतमें आ-आकर झूमने लगतीं। रातके सियाह परदोंके अन्दर अनासिरकी सर-गोशियाँ साफ़ सुनाई देतीं। बारहा ताजकी बुरजियाँ अपनी जगहसे हिल गयीं और कितने ही मर्तबा ऐसा हुआ कि मिनारें अपने काँधोंको जुम्बिशसे न रोक सकीं। आप यक़ीन करें या न करें मगर यह वाक़िआ है कि उस आलममें बारहा मैंने बुरजियोंसे बातें की हैं, और जब कभी ताजके गुम्बदे-ख़ामोशकी तरफ़ नज़र उठायी है तो उसके लबोंको हिलता हुआ पाया है।"

आज़ाद तो हर हालतमें आज़ाद हैं चाहे जहाँसे और जिस रुख़से भी

---

१. दम साधे, २. अँधेरा और रौशनी।

देखा जाये। परन्तु स्वयं आज़ादने अपने बारेमें यह जो कहा है :

"जिस कूचेमें भी क़दम उठाया उसे पूरी तरह छान-कर छोड़ा। सवाबके काम किये तो वह भी पूरी तरह किये गुनाहके काम किये तो उन्हें भी अधूरा न छोड़ा। रिन्दीका कूचा मिला था तो उसमें भी सबसे आगे रहे थे, पारसाईकी राह मिली तो उसमें भी किसीसे पीछे न रहे। तबीयतका तक़ाज़ा हमेशा यही रहा कि जहाँ कहीं जाइए नाक़िसों और ख़ाम्कारोंकी तरह न जाइए, रस्मो-राह रखिए तो राहके कामोंसे रखिए।"

तो यही पत्र मौलाना आज़ादके व्यक्तित्वकी तहोंको कुरेदनेमें सहायक बनेगा और मेरी बातका अन्त भी।

ख्वाजा हसन निज़ामी

# ख़्वाजा हसन निज़ामी

३१ जुलाई '५५ का दिन था, दर्गाह्-निज़ामुद्दीन औलियासे एक हृदय-विदारक चीख़ उठी और सारी दिल्लीमें एक करुणा उमड़ पड़ी, लाल क़िला और क़ुतुबमीनारपर ग़मकी घटाएँ छा गयीं, जमुनाकी मौजें सिर पटकने लगीं।

और फिर देखते-देखते भारतका साहित्य-जगत् शोकमें डूब गया—

**—कि आज**
**तहज़ीबका नमूना,**
**पाँच सौसे अधिक किताबोंका लेखक,**
**और इन सबसे बढ़कर—**
**अलबेली उर्दूका जनक**
**ख़्वाजा हसन निज़ामी**
**मौतकी नींद सो गया।**

लेकिन जिस हसन निज़ामीकी मौतपर लोग आँसुओंके दरिया बहा रहे थे वह ख़ुद ज़िन्दगी-भर क़हक़होंके फूल बिखेरता रहा। मैं उसकी अलबेली उर्दूके दूसरे नमूनोंकी बात नहीं कर रहा हूँ, वह मेरा विषय नहीं। मैं तो उसके ख़तोंकी बात कर रहा हूँ जो सौ-दो-सौ वर्षोंकी मार खाकर भी शायद ज़िन्दा रहें।

१९३७ का यह वह ज़माना है जब इण्डिया ऐक्टके अन्तर्गत कांग्रेसने विधानसभाके लिए चुनाव लड़नेका फ़ैसला किया। ख़्वाजा हसन निज़ामी

उस चुनावके ख़िलाफ़ थे। उन्होंने नेहरूजीके नाम, जो उस समय सभापति थे, ये पत्र लिखा :

"अल्लाहाबादके दिल्दार, दिलका सलाम लो!

और फिर ये पयाम[1] सुनो कि तुम भी दिल्लीवाले हो। नहर सआदत ख़ाँ देहलीके पास तुम्हारे बुज़ुर्ग रहते थे, इसलिए नेहरू कहलाते हो। मेरे बड़े भी साढ़े छह-सौ बरससे दिल्लीमें रहते आये हैं। इस वास्ते मुझे हम-वतनी और हम-शहरी होनेका जज़्बा जुरअत दिलाता है कि भाइयों और आपसमें मुहब्बतका रिश्ता रखनेवालोंकी तरह तुमको मुख़ातिब करूँ।

तुम हिन्दुस्तानके दिलोंपर हुकूमत करते हो, क्योंकि तुम्हारे दिलपर ख़ुलूस और सच्चाई और बे-ग़रज़ी-हुकूमत करती है, तुम्हारे महकूम दिलोंमें एक मेरा दिल भी है। तुम अल्लाहाबादमें पैदा हुए, अल्लाह तुम्हारे बोलको हमेशा बाला और आबाद रखेगा, तुम मज़हबकी असली रूहके साथ चल रहे हो जिसका दूसरा नाम बे-ग़रज़ ख़िदमते-ख़ल्क़ है। इसलिए अपने मनकी विरह और लगन और सोज़को इस ख़तके बोलते हुए हर्फ़ोंमें मैं तुम्हारे पाक और बेबाक दिलके सामने पेश करता हूँ। इस ख़तमें कोई चाल नहीं है जिसकी आजकल सारी दुनियामें हवा फैली हुई है। इसमें कोई तब्लीग़ी हिकमत भी नहीं है क्योंकि हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानवालों और हिन्दुस्तानकी हुकूमतको देखते-देखते मेरी सारी तब्लीग़ी हिक्मतें[2] विरह-की आगमें जल-भुनकर ख़ाक हो चुकी हैं।

---

१. सन्देश, २. प्रचारके साधन।

इस ख़तमें अपने मज़हब या अपनी क़ौम या फ़िर्के-की तरफ़दारी भी नहीं है। इस ख़तमें ग़ैर-मुस्लिम क़ौमोंसे चाहे वह हाकिम हों या महकूम, नफ़रत और दुश्मनी भी नहीं है; और इस ख़तमें नमूद-व-नुमाइश[1] की कोई ज़ाती ख़्वाहिश भी नहीं है। और इस ख़तको ख़ल्क़-अल्लाहमें[2] आम करनेकी वजह भी महज़ यह है कि शायद और कोई हिन्दुस्तानी भी मेरे इस दर्द-दिलमें शरीक हो जाये, जिसके तक़ाज़ेने मुझसे यह ख़त लिखवाया है। क्योंकि इस ख़तकी तहरीरके वक़्त मुझे ऐसा महसूस होता है कि इस ख़यालमें मेरा कोई भी साथी नहीं है, न हिन्दू न ईसाई, न कोई और। रात बहुत सुनसान ढल रही है, तीन बज चुके हैं। सारी दुनिया सोती है, मैं लिख रहा हूँ और सिवा काटने-वाले मच्छरों और घण्टेकी आवाज़के किसीको अपना शरीके-हाल नहीं पाता। ख़यालात और तसव्वरात बहुत हैं, मगर इन नातवानियोंको देखता हूँ तो यह भी कुछ कम नज़र नहीं आतीं।

मुझे बहुत कुछ कहना है, लेकिन दिल कहता है अल्लाहाबादका दिल्दार पहले ही सब कुछ जानता है। जानी-पहचानी, समझी-समझायी बातोंको दोहराना बेकार है, एक हर्फ़ बस है। एक अल्लाहके नामपर आबाद शहरीको बस एक ही बात लिखनी काफ़ी है। और वह ये है कि हिन्दुस्तानियोंको दुःख-भरी क़ैदसे नजात[3] दिलवानेकी कामना और चाहत रखनेवाला इन औज़ारोंसे दुःख-भरी बेड़ियाँ काटनी चाहता है जो दुःख पैदा करनेवालों ही ने

---

१. दिखावा, २. अल्लाहके लोगोंमें, ३. मुक्ति।

दस मील दूर इन्कमटैक्स ऑफ़ीसरसे मिलने जा रहा था। लाखों औरत-मर्द जमना स्नान करके घरोंमें वापस जा रहे थे। क़दम-क़दमपर अन्देशा होता था कि किसीसे टक्कर हो जायेगी।

मुझे मालूम नहीं था कि बैसाखी क्या चीज़ होती है क्योंकि इसकी चर्चा पंजाबमें ज़्यादा है। अब पंजाबके पाँचों दरिया देहलीके कूज़ेमें बन्द हैं। इन्कमटैक्स ऑफ़ीसर हिन्दू हैं। मुझे देखकर कहने लगे कि आज नया साल है, शगून बहुत अच्छा है, सामने सोनेकी घड़ी कलाईपर बाँधी है और ख़ुदाने आपको घर बैठे भेज दिया। यह सुनकर कि बैसाखी हिसाबका नया साल है मुझे इसलिए दिल-नवाज़ मालूम हुआ कि मैं भी अपने इन्कमटैक्सका हिसाब समझने-समझाने गया था।

मुझे आपके बच्चोंके नाम पढ़कर ऐसी ख़ुशी हुई गोया होटल-डि हार्टमें ठहर गया हूँ और मेरी नवासी 'गुलेराना' आपकी नवासीके साथ बातें बना रही है।

यह बताना कि ये मुसाफ़िर होटल-डि-हार्टमें कब आयेगा मुश्किल है, क्योंकि बीमारियोंने इतना ज़ोर पकड़ा है कि कल दोपहरसे आज तीसरे पहर तक कुछ नहीं खाया और पान छोड़े हुए सात दिनसे ज़्यादा हो गया। ख़याल आया अगर लखनऊ जाऊँगा और ममानी लखनऊके पानकी गिलोरी मुझे भेजेंगी तो क्योंकर इनकार करूँगा।

हज़रत अकबर कहा करते थे कि आनेवाले इन्क़िलाबके सैलाबमें सब बह जायेंगे सिर्फ़ सूफ़ी ( अध्यात्म-वादी ) बाक़ी रहेंगे। आपकी किताब 'तसव्वुफ़' को जब पढ़ता हूँ अकबर याद आते हैं। आपके शुरूके कुछ मुसव्वदे कहीं

हाँ तो मैं उनको देखना चाहता हूँ ताकि आपकी ज़िन्दगीके इर्तक़ाई दर्जोंको समझ सकूँ। न आपके लिए, न अपने लिए, न क़ौमके लिए, न मुल्कके लिए बल्कि होटल-डि-हार्टके लिए।

मेरी बीनाई बहुत कमज़ोर है। दायीं आँखसे कुछ थोड़ा-सा नज़र आता है, बायींसे कुछ नज़र नहीं आता। हर वक़्त हलका-हलका बुख़ार रहता है। गुर्दा, मेदा, ज़िगर ख़राब हैं। आँतें भी ख़राब हैं। नींद भी कम आती है। मगर ग़ुस्सा ज़्यादा आता है। और यह क़ुरआनकी बतायी हुई मोमिन[1] की शान नहीं है, बाक़ी सब सिफ़ातें-मोमिन[2] मेरे अन्दर हैं। एक कोताही मेरे ज़ेहन और दिमाग़में पैदा हो गयी है कि मैं चारों तरफ़ देखकर कहता हूँ कि लोग काम कर रहे हैं। मगर उनको काम करना नहीं आता। मुझे काम करना आता है लेकिन काम लेना नहीं आता। इस वास्ते मेरे किसी काममें तरतीब और मौज़ूनियत[3] बाक़ी नहीं....."

डरता हूँ कहीं मेरी बातोंमें भी क्रम और सन्तुलन बाक़ी न रहे और फिर ये कि बात भी तूल न पकड़ जाये। फिर भी यह पत्र तो आप सुन ही लें। इसकी तवालतसे आपको तकलीफ़ तो होगी, लेकिन शायद सुन लेनेसे भला भी हो आपका। हाँ, ये पत्र भी उन्हीं मौलाना वहीद अहमद साहबके नाम है जिन्हें आप अभी होटल-डि-हार्टके सिलसिलेमें जान चुके हैं :

"सलाम और मुहब्बतके पैग़ामके बाद मालूम हो कि ८ अप्रैलका ख़त आज ११ को मिला। जी चाहता था कि इसका जवाब भी अपने हाथसे लिखूँ मगर पिछली रात तहरीरी काम ज़रा ज़्यादा था इसलिए ख़त लिखवाता हूँ।

---

१. आस्तिक, २. ईश्वरवादियोंके गुण, ३. क्रम और सन्तुलन।

········एक दफ़ा अमीनाबाद लखनऊमें हज़रत अकबर इलाहाबादी ठहरे हुए थे और मैं उनसे मिलने गया हुआ था। नौकरने आकर ख़बर दी मौलाना अबुलकलाम साहब मिलने आ रहे हैं। हज़रत अकबरने मुझसे कहा, चलिए 'अबुलहिलाल' आ रहे हैं, हम कहीं भाग चलें। मैंने कहा भागनेकी क्या ज़रूरत है आने दीजिए। कहा, मेरे एसाब[1] कमज़ोर हैं, आपके एसाब मज़बूत हैं। मगर बहसका वक्त नहीं है, जल्दी चलिए।

हम दोनों बालाख़ानेसे नीचे उतरे और एक इक्के-वालेको बुलाया। एक तरफ़ मैं बैठा और एक तरफ़ अकबर। इक्केवालेने लखनवी तमीज़दारीसे पूछा, 'हुज़ूर कहाँ चलिएगा।' फ़रमाया, 'जल्दी चल यह पूछनेका वक्त नहीं है।' इक्का चला, सड़क मुड़ी, इक्केवालेने फिर पूछा, 'कहाँ ले चलूँ?' फ़रमाया, हुज्जत न करो जहाँ जी चाहे ले चलो। इक्केवाला हैरान कि अजब सवारी मिली है। मुझे भी तअज्जुब कि मौलाना अबुलकलामसे इस क़दर घबरानेकी क्या ज़रूरत है। आख़िर अमीनाबादकी एक दूकानके सामने उतरे और इक्केवालेको किराया दिया और दूकानदारके पास पहुँचे। वह वाकिफ़ था, ताज़ीमके लिए खड़ा हो गया। उन्होंने कहा, 'मैं दूकानके आख़िरी हिस्सेमें जाना चाहता हूँ।' दूकानके तीन दरजे थे, हज़रत अकबर आख़िरी तीसरे दरजेमें जाकर बैठ गये और मुझसे पूछा, 'यहाँ तो अबुल हिलाल साहब नहीं आ जायेंगे?' मैंने कहा, 'यह जगह बिलकुल महफ़ूज़ है, लेकिन आख़िर उनसे डरने और बचनेकी

---

१. रग पट्ठे।

वजह क्या है ?' फ़रमाया, 'जब आपका 'सर जेम्स मिस्टन' से झगड़ा हुआ था तो मुझपर आपसे तअल्लुक़ रखनेके कारण बड़ी यूरश[1] हुई थी। अब अँगरेज़ोंके दुश्मन अबुल कलामसे मिलूँगा तो ख़बर नहीं ज़िलेके अफ़सर कितना ज़्यादा सतायेंगे।'

यह क़िस्सा इसलिए लिखा कि हर दौरमें ख़ुदाकी ज़ात किसी-न-किसी ख़ौफ़की शकलमें तजल्ली[2] दिखाया करती है, मगर मैं हमेशा इस तजल्लीकी ज़ियारतसे महरूम रहा यानी किसी डरनेकी चीज़से कभी नहीं डरा।

ख़बर नहीं अमीनाबादमें अब भी होटल हैं या नहीं। क्योंकि मैं होटलके क़ियाम[3]को आज़ादी और राहतका ज़रिया समझता हूँ। हवाई जहाज़में आऊँगा और दो रात अमीना-बादके होटलमें ठहरूँगा और आपसे मिलकर चला आऊँगा।"

---

१. आक्रमण, २. झलक, ३. निवास।

# चौधरी मुहम्मद अली रदूलवी

"....चन्द रोज़ हुए हज़रतगंजसे गुज़र रहा था, रास्तेमें चन्द जाननेवाले नौजवान लड़के मिल गये। उनके साथ कुछ देर एक क़हवाख़ानेमें जाकर बैठे। उनसे इधर-उधरकी बातें कीं। जवानीकी झलक देखी, अपना बुढ़ापा भूले। फिर लड़के अपनी राह चले गये। सामनेसे एक बूढ़ा आता नज़र आया। ख़याल आया कि अब फिर बुढ़ापा दिखलायी दिया। बड़ी कोफ़्त हुई कि अब दो घड़ी रुककर इनसे मिलना पड़ेगा। सूरत-आशना[1] मालूम होते हैं, लेकिन जी नहीं चाह रहा था कि इनसे मिलें, बहुत ही बुरे दिलसे उनकी तरफ़ बढ़े। दो क़दम क़रीब पहुँचकर देखा तो सामने क़द-आदम आईना था—"

ये थे चौधरी मुहम्मद अली रदूलवी जिनके बारेमें कभी नियाज़ फ़तहपुरीने कहा था कि वह लिखते नहीं बात करते हैं। और ये कि जिसने उन्हें बात करते सुना है वही समझ सकता है कि मुँहसे फूल झड़ना किसे कहते हैं।

उर्दू साहित्यकी वह बैक ग्राउण्ड जिसमें अवधकी भरपूर ज़िन्दगीकी सारी गहमा-गहमी मौजूद थी, उसकी झलक हमें पण्डित रतननाथ सरशार, रुस्वा, और अवधपंचकी फ़ाइलोंमें दिखाई देती रही है। उन लोगोंके अतीतमें 'तिलिस्म होशरुबा'की वह दास्तानें भी थीं जिन्हें आग़ामीरकी

---

१. सूरत पहचानी हुई।

डेवढ़ीवाले अफ़ीमची दास्तान-गो महफ़िलोंमें सुनाया करते थे। दूसरी ओर अलीगढ़में मुसलमानोंने अँगरेज़ी पढ़ना आरम्भ कर दिया था। मौलाना हाली मुनाजात[1] लिखते थे और अकबर इलाहाबादी ज़मानेके इन्क़िलाबपर कड़वी हँसी हँसनेमें लगे थे। सामाजिक पृष्ठभूमि बहुत ही उलझी हुई थी। पण्डित रतननाथ सरशार मुसलमानोंके उज्ज्वल भूतकालका चित्रण कर रहे थे, जिसमें हर विजयी होरो अन्तमें ईसाई हीरोइनको मुसलमान बना लेता था। हालाँकि सच बात यह थी कि अभी चन्द रोज़ पहले ईसाई फ़ौज एक बादशाहको रंगून और दूसरेको मटियाबुरुजमें क़ैद कर चुकी थी। क़ौमके पास ख़ूनके आँसू रोने और रुलानेके सिवा और कुछ बाक़ी न था। हिन्दू-मुसलमानोंकी मिलावट भी हमारे बुज़ुर्गोंको व्याकुल करने लगी थी। परन्तु ये राजनीतिक प्लेटफ़ॉर्मके झगड़े थे। रोज़मर्राकी ज़िन्दगीमें तो हिन्दू-मुसलमान दोनोंको अँगरेज़ डिप्टी कमिश्नरके सामने जूते उतारकर जाना होता था।

हिन्दुस्तानकी नयी जागृतिके हरावल दस्तेके लोग बंगालमें योरोपके बौद्धिकज्ञानसे १९वीं शताब्दीके पहले आधे ही में परिचित हो चुके थे। माईकेल मधुसूदन और उनके साथी योरोपके रोमानी विद्रोहियोंसे प्रभावित होकर उस वक़्त अँगरेज़ीमें कविता, नाटक और नॉवेल लिख रहे थे जिस वक़्त अभी लखनऊमें शमाकी रोशनीमें रानी केतकी[2] की दास्तान ही पढ़ी जा रही थी। फिर क़ैसरबाग़की बारादरीकी इन्द्रसभा उजड़ गयी और सर सैयदने इंगलिस्तानके यात्रा-विवरणमें लिखा कि आज वह मुबारक दिन आया जब मैं बकिंघम पैलेसमें हाज़िर हुआ। वास्तवमें यह ख़ूनके आँसू रोने और रुलानेका ज़माना था।

फिर हमारी अपनी सभ्यता थी जो देहातों और क़स्बोंमें देखी जाती

---

१. ईश-गुण-गाथा, २. रानी केतकी : उर्दूकी पहली कहानी, प्रसिद्ध कवि इन्शा अल्लाख़ाँ 'इन्शा' ने १८०३ में लिखी।

थी और जिसकी नींव मानवताकी विशाल परम्परापर रखी गयी थी। और उसी सभ्यताके नामलेवा चौधरी मुहम्मद अली भी थे।

चौधरी मुहम्मद अली ज़िला बाराबंकीके प्रसिद्ध क़स्बे रदूलीके रहनेवाले थे। ये भी १९वीं शताब्दीके अन्तवाली उस नयी नस्लसे सम्बन्धित थे जिसकी चर्चा मैंने अभी की है। मुहम्मद अली उस नस्लमें अकेले नहीं थे। 'सज्जाद हैदर यल्दरम' उसके एक व्यक्ति थे और उनके सारे दोस्त और साथी, मुन्शी प्रेमचन्द, मुन्शी दयानारायण निगम, सर मुहम्मद याक़ूब, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, हसरत मोहानी, सर तेजबहादुर सप्रू, अब्दुलक़ादिर सभी तो थे उसमें। और मुहम्मद अलीका अन्दाज़ इन सबोंसे अछूता, इन सबोंसे अनोखा था :

> **"माई डियर मौलाना! एक औरत थी, वह बड़ी हँसमुख थी। जिस मर्दको देखती थी, हँस देती थी। उसके शौहरको यह बात पसन्द न थी। उसने अपने शौहरको इतमीनान दिलाया :**
>
> **'हँसना मेरा सुभाव बालम तुम चिन्ता ना मानियो!' यही हाल मेरी कोताह-क़लमी[1] का है। आप अपने ख़तोंका जवाब देरमें पाकर उलझा न कीजिए। अगर मैं रोज़-रोज़ ख़तोंका जवाब दिया करूँ तो इतनी तम्हीदें[2] कहाँसे पाऊँ....।"**

एक और साहबको बहुत दिनोंसे खत नहीं लिखा। उन्होंने एक खतका जवाब न पाकर दूसरा लिखा है। इसपर मुहम्मद अली उन्हें लिखते हैं :

> **"माई ख़ुर्शीद! सलामे-शौक़। आपका मोहब्बतनामा आया था और जहाँतक याद पड़ता है मैंने जवाब भी**

---

१. कम लिखने, २. भूमिका।

लिखा था। मगर क़सम नहीं खाऊँगा। मुम्किन है लिखने-का इरादा ही करते-करते रह गया हूँ। बहरहाल अगर वह ख़त मैंने न भी लिखा हो तो आप डाकख़ानेसे दूर रहे हों, लेकिन दिलसे दूर कभी नहीं रहे। इस दूसरे ख़तका भी शुक्रिया .क़ुबूल फ़रमाइए। मैं ज़िन्दा हूँ और अभीतक चला जाता हूँ मगर अभीतक ये हालत हैं कि एक दिन अगर बिलकुल ही चला जाऊँ तो अफ़सोस कर लीजिएगा, तअज्जुबकी गुंजाइश न होगी।"

एक दोस्तकी बीवीका देहान्त हो गया है उसे शोक-पत्र लिखते हैं। और देखिए कैसा अनोखा तरीक़ा निकाला है हमदर्दी जतानेका :

"मैं नातजरबाकारीके ज़मानेमें ताज़ियत और पुर्से-[1] पर हँसा करता था। मेरी एक लड़की जो बहुत दिनोंसे बीमार थी वह गुज़र गयी। सुबहको एक साहब ताज़ियतको आये। बेचारे कम-सुख़न थे[2], आकर चुप बैठ गये। मैंने कहा, 'हाँ तो फिर शुरू कीजिए। बच्ची क्या बीमार थी? मुझको ख़बर भी नहीं हुई, .ख़ुदा आपको सब्र दे।' इतना ही कहा और वह बेचारे परीशान हो गये। उसके बाद मेरा इकलौता लड़का गुज़र गया तो एक देहाती जाहिल मुलाक़ातीने हमदर्दी की। अजब भोंड़े तरीक़ेसे उसने मुझे तस्कीन दी। मगर ये मालूम हुआ कि ज़ख़्मपर किसीने मरहम रख दिया। उसने कहा, 'वह लड़का तुम्हारा था ही नहीं। अगर तुम्हारा होता तो तुम्हारे पास रहता ना! वह जिसका था उसने ले लिया, तुम क्यों रंज करते हो।'

हाशमी साहब, इस वक़्त भी वह ज़ख़्म हरा है और

---

१. मृतकके प्रति उसके सम्बन्धियोंसे शोक प्रकट करना, २. कम बोलनेवाले थे।

इस वक़्त भी वह मरहम अपना काम कर रहा है। उसके बादसे मैं हर पहलूसे ताज़ियतकी क़ीमत समझने लगा और इसी वजहसे ये सफ़ासियाह किया कि शायद दिली हमदर्दी ग़ममें कुछ कमी करे। ख़ुदा आप हज़रातको सब्र दे, आमीन!....''

स्वास्थ्य अच्छा नहीं और कमरमें दर्द है। इसकी सूचना एक साहबको यों देते हैं :

"आजकल अलावा रूहानी तकलीफ़के एक जिस्मानी तकलीफ़ भी बढ़ गयी है। यानी कमरमें सख़्त चुक आ गयी है। आप कहेंगे कि यह कौन ऐसी मुसीबत थी जिसकी बिनापर दोस्तोंसे हमदर्दीका लगान वसूल किया जाये। हज़रत, बात ये है कि एक बार दो कायस्थ मेरे पास एक ग़रज़ लेकर आये और बहुत चालाकीसे अपना मतलब निकालनेमें लग गये। मैंने कहा, 'हो न कायस्थ, अपना मतलब निकालनेके लिए दूसरोंके नुक़सानकी परवाह नहीं करते।' उन्होंने जवाब दिया, 'हम वह कायस्थ नहीं हैं जो आप समझते हैं।' इसी तरह मेरी कमरकी चुक वह नहीं है जो आप समझ रहे हैं। यह ऐसी चुक है जो नमाज़में पटख़नी बता देती है।"

मुहम्मद अली लोगोंको होम्योपैथिक दवाएँ मुफ़्त दिया करते थे। लेकिन अगर किसी भले-चंगे मरीज़ने इनके प्रश्नोंका उत्तर मूर्खतासे दिया तो फिर इनका क्रोध देखने योग्य होता था और अगर कोई अच्छा-भला आदमी ज़रा भी नासमझी कर बैठता तो उसे ये ऐसी-ऐसी चौकस झुकाइयाँ देते कि दूसरे जो सुने तो हँसते-हँसते पेटमें बल पड़ जायें और जिसपर गुज़रे उस ग़रीबसे धरते-उठाते न बने। हाँ तो, एक बेगम साहबाने बस ज़रा यों ही-सा कहलाकर अपने लिए दवा मँगवायी, हालाँ कि होम्योपैथिक

दवा देनेके लिए विस्तारपूर्वक रोग-लक्षण मालूम किये जाते हैं, तब कहीं सही दवा दी जाती है। बेगम साहबाने यह भी कहलाया कि इस्तख़ारा[1] सिर्फ़ तुम्हारी दवा इस्तेमाल करनेपर आता है। मुहम्मद अलीने बेगम साहबाको दवा तो भिजवा दी लेकिन साथ ही ये पत्र भी भेजा :

"मोहतरमा, क़रीब था कि मुझको भी दवा देनेको इस्तख़ारा मना आ जाये, इसी वजहसे मैंने इस्तख़ारा नहीं देखा। आख़िर कुछ इन्साफ़ है? घर घोड़ी, नख़्ख़ास। कैसे दवा तजवीज़ करूँ और कैसे मर्ज़की जाँच करूँ? बड़े गाँवके तमाम सादातुल-ख़ैरातका यही हाल है मगर क्या करूँ? दवा देनेका काम ही अपने सर लिया है, दवा न दूँ तो क्या करूँ? यह गोलियाँ इसी तरह भेजी जा रही हैं जैसे बाज़ शरीर लड़के रातको ढेले फेंकते हैं। लग गया तो वाह-वाह, न लगा तब भी लोग परीशान तो होंगे हो। अगर ख़ुदा-नख़ास्ता इस दवासे आपको दो हज़ार दस्त या दो हज़ार क़ै आ जाये, या नसीबे-दुश्मनाँ आपका ख़तरा टल गया तो मुझसे शिकायत न कीजिएगा। अन्धेकी दाद न फ़रयाद। इन गोलियोंको सुबह-शाम खाइए और घण्टा-भर पहले और घण्टा-भर बाद पान-तम्बाकू न हो। और जब फ़ायदा हो तो दवा बन्द कर दीजिएगा। इस दवामें ख़ुशबू, बदबू न लगे। किसी ऐसे ताक़पर रखिएगा जहाँ धुआँ न भरता हो।"

यह एक और पत्र भी कुछ इसी तरहका है। मुहम्मद अलीने इसे अपने उस दोस्तको लिखा था जिससे मुलाक़ात हुए बहुत दिन हो गये थे और जिसने ख़ैर-ख़ैरियतका भी कोई ख़त नहीं लिखा था :

---

१. शकुन।

"ज़माना और अस्बाबे-ज़माना इतने दूसरे हो गये हैं कि न मालूम कितने हैं जिनसे मिलकर जी .ख़ुश होता था और अब बरसों ख़बर भी नहीं होती। .ख़ुद हमारे साथी तो क़रीब-क़रीब ख़त्म हो चुके, भलेको हमने अपनेसे कम-सिन लोगोंसे रस्म बढ़ा ली थी : गोया सींग कटाकर बछड़ोंमें दाख़िल हो गये थे! मगर .ख़ुदाका करना ऐसे है कि उनसे भी वास्ता न रहा। अब दो-एक बुड्ढे रह गये हैं। उनसे कभी मुलाक़ात हो जाती है तो आपसमें ऐसी बातें होती हैं जैसे हम लोग एराफ़में[1] बैठे हैं।"

चौधरी मुहम्मद अलीकी किताब 'सलाहकार' पढ़कर तम्कीन काज़मीने इन्हें एक पत्र लिखा जिसमें इस किताबकी बहुत खुलकर दाद दी थी। मुहम्मद अलीने जवाबमें लिखा :

"हज़रत, आपने मेरी नाचीज़ चीज़ोंकी दाद दी, मेरे दिलको मसरूर किया। इसका अजर[2] आपको वहाँसे मिले जहाँ किसीका एहसान ज़ाया नहीं होता। किताबकी तरफ़से मैं बड़ा बदक़िस्मत हूँ। यह रिसाला दो बरससे लिखा पड़ा है। दो बार कापियाँ लिखी गयीं, तीसरी बार छपी भी तो सफ़्के-सफ़्हे ग़ायब, मज़ामीन ख़ब्त, मानो कुछके-कुछ होकर रह गये। और मैं कलेजा पकड़कर बैठ गया। मेरे इनायत-फ़रमा डॉक्टर सैयद आबिदहुसैन अब दोबारह छपवा रहे हैं। देखिए कबतक तैयार हो!

जनाबने मेरी हिम्मत बढ़ायी; आपकी जगह मेरे दिलमें है, गो नौबत यक-जहती और हम-कलामीकी नहीं आयी[3]। आपका दुआगो हूँ और इसी वजहसे दिल चाहता

---

१. मुसलमानोंके धर्मशास्त्रके अनुसार उस स्थानका नाम है जो नरक और स्वर्गके बीचमें है, २. बदला, ३. मिल बैठने और बातें करनेका अवसर न आया।

है कि हमदर्द पाकर थोड़ा-सा दुखड़ा भी रो लूँ। मैंने चार किताबें छोटी-छोटी लिखी हैं। एक इनमें-की तीसरी छप रही है, एक अब मिलती नहीं। लेकिन कभी ऐसा न हुआ कि किताब किसीको देकर छापनेवालोंसे शिकायत न होती। एक साहबने पहली छपाई उम्दा करायी दूसरीमें सिर्फ़ यही नहीं कि काग़ज़ बोदा कर दिया हो, लिखाई सस्ते दामोंवाली कर दी हो, बल्कि इस्लाहें भी दे दीं। इसीपर बस नहीं किया, मेरा दीबाचा जो मुझको बहुत अज़ीज़ था वह भी रह गया। इसलिए कि काग़ज़का तर्क पीटना था, दीबाचा भी रखा जाता तो दो-चार दस्ते काग़ज़ और खप जाते। फ़िलहाल एक किताब जूता बनानेपर लिखनेका सामान कर रहा हूँ, देखिए कब पूरा हो। तारीफ़ किसको बुरी लगती है, ओछापन किसमें नहीं। किताबके बहुत सारे ऐब मेरी नज़रमें हैं।"

बुरी लिखाई-छपाईसे इन्हें चिढ़ थी। इनकी किताब 'कश्कोल मुहम्मद अली शाह फ़क़ीर' का भी कातिबों और प्रकाशकोंने सत्यानाश कर दिया है। उसकी ख़बर एक दोस्तको देते हैं :

"कश्कोल मुहम्मद अली शाह फ़क़ीर' उम्मीद है ढाई बरसके बाद प्रेससे आ जाये। जैसे ही आ गयी हाज़िर करूँगा। मगर सलाहुद्दीन साहब छापनेवालेने क्या ज़ुल्म किया है! छपाई ऐसी है जैसे यतीम बच्चेका मुँह होता है। ग़लतियाँ ऐसी हैं जैसे बुरे घरकी लौण्डी होती है। किताब मस्ख़ होकर रह गयी है; और हम हैं कि बेबस, बेइख़्तियार, दम-ब-ख़ुद बैठे हैं।"

अनोखी उपमाएँ देख लीं आपने? जी नहीं भरा तो एक और देख लीजिए। बेटीकी बीमारीकी ख़बर सुनी है, उसे लिखते हैं :

"सुन रहा हूँ कि तुम्हारे दुश्मनोंको हरारत आ गयी। तुम्हारी बीमारीमें मेरी वही कैफ़ियत होती है जो मीर तक़ी 'मीर' की बरसातमें पुराने घरको देखकर होती थी—
तर तनिक हो तो सूखते हैं हम।"

आप इस 'तनिक' पर न जायें। 'मीर' की शाइरीमें हिन्दी शब्दोंका जो ख़ूबसूरत इस्तेमाल हमें मिलता है वह तो एक अलग विषय है। अभी तो मैं अपनी बातका अन्त इसपर करना चाहता था कि मेरी तरह आप भी 'नियाज़'की उस रायसे सहमत हो जायें कि मुँहसे फूल झड़ना इसे कहते हैं और बस !

नियाज़ फ़तहपुरी

# नियाज़ फ़तहपुरी

नियाज़ने किसीको अपने एक पत्रमें लिखा था कि :

"ज़ालिम ! ख़ुदा समझे उससे जिसने तुम्हें यह समझा दिया कि मुहब्बतकी आज़माइश यों भी हुआ करती है। मैं पूछता हूँ कि मैंने क्या क़ुसूर किया था जो यों मुझसे रूठ गये ? क़सम ले लो जो आपकी ग़ीबत[1] में कोई लफ़्ज़ भी आपके मुतअल्लिक़ उनसे कहा हो।

मियाँ होशमें आओ ! कैसी मुहब्बत, कहाँकी उल्फ़त, जवानीमें बुढ़ापेके-से गिले-शिकवे कुछ अच्छे नहीं मालूम होते। वह एक दफ़ा भुला देनेकी धमकी दें तो तुम सौ दफ़ा मुँह मोड़कर चले आओ। यह भी कोई बड़ी बात है। तुम्हारी उम्रमें तो यहाँ दिलके अन्दर तीरपर-तीर पैवस्त होते थे और फाँसकी तरह निकालकर फेंक देता था।"

इससे पहले कि मैं आपको तीरपर-तीर पैवस्त होनेका नज़्ज़ारा कराऊँ ज़रूरी मालूम हो रहा है कि नियाज़के विषयमें जाननेके लिए 'ज़ोय अन्सारी'की ओर देखें जो हमें नियाज़का परिचय इन शब्दोंमें दे रहे हैं :

"उर्दू लेखनी और क़लमकी बाग़ियाना हमाहमीमें 'सर सैयद'के बाद सबसे अधिक ऐतिहासिक और बहसीले व्यक्तिका नाम नियाज़ है। इनका नाम छत्तीस वर्षसे प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'निगार' के साथ कुछ इतना

---

१. पिशुनता।

सम्बन्धित हो गया है कि नियाज़ मुहम्मद ख़ाँ 'नियाज़' साकिन फ़तहपुर हँसवा, उत्तर प्रदेशके बजाये 'निगार'-वाले नियाज़ और नियाज़वाला निगार एक साथ आते हैं। क्योंकि दोनोंने एकजान होकर पहले महायुद्धके बाद साहित्यपत्रकारिता, राजनीति और सभ्यताके विभागोंमें उभरनेवाली नस्लका प्रशिक्षण किया और उर्दूमें समझदारों-के क़ाफ़िलेको उँगली पकड़कर चलना सिखाया है। नियाज़ लिखनेके एक ख़ास ढंगके मालिक हैं जिसने बहुत-से अध-पके ज़िहनोंको गुमराह भी किया है। नियाज़ फ़तहपुरी एक ही समयमें लेखक, पत्रकार, कवि, सम्पादक, अन्वेषक, मौलवी, सूफ़ी, नास्तिक और ख़ुदापरस्त हैं और गुज़री नस्ल-की एक ऐसी जीवित, गतिवान, कारगर और चाक़-चौबन्द यादगार हैं जिनका सानी इस नये युगमें पैदा न होगा।"

सो :

"इतना क़ातिल ख़त और इस क़दर तवील! तुम तो सिर्फ़ यही कहना चाहती थीं न कि आइन्दा मैं तुम्हें कोई ख़त न लिखूँ। फिर यह पूरे छह सफ़्हे क्यों? शायद इसलिए कि साफ़-साफ़ ऐसा कहते हुए तुमको हिजाब आता था; नहीं यह बात नहीं। मैं समझता हूँ तुमने मुझे आहिस्ता-आहिस्ता ज़िबह करना चाहा। इस तरह कि हल्क़पर छुरी भी चल रही है, तुम मुसकरा-मुसकरा कर मुझको तसल्लियाँ भी देती जाती हो, और मैं बे-ख़बर हूँ। यहाँतक कि दफ़्अतन[1] तुम्हारा हाथ शहरग तक पहुँच जाता है यानी तुम्हारा ख़त ख़त्म हो जाता है इस हुक्मके

---

१. अचानक।

साथ कि आइन्दा तुम्हें कोई ख़त न भेजूँ—और—मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई निहायत बेशक़ीमत चीनीकी क़ाब दफ़अतन हाथसे छूट जाये और फ़र्शपर गिरकर चूर-चूर हो जाये। लेकिन ख़ैर इससे एक फ़ायदा ज़रूर हुआ और वह यह कि तुमने ख़त लिखनेसे बाज़ रखकर मुझे इसका मौक़ा तो दे दिया कि जो कुछ कहना है आज़ादीसे कह दूँ और दिलकी वह हर बात जो तुमपर हाज़िर न कर सकता था, कह डालूँ। क्योंकि अब मुझे क्या डर है। तुम सुन न सकोगी और दुनिया सुनती है तो सुने। अच्छा तो शुरू करता हूँ।

एक था बादशाह, हमारा तुम्हारा ख़ुदा बादशाह....! तुम्हारी सबसे पहली तहरीर मुझ तक पहुँची तो मैं देर तक सोचता रहा कि अगर यही बातें मैं तुम्हारी ज़बानसे सुनता तो क्या होता। तुम्हें ख़बर नहीं लेकिन हुआ यही!

मैंने तुम्हारी तहरीरके एक-एक लफ़्ज़को देखकर, हर्फ़ोंकी हर-हर कशिशको समझकर, काग़ज़के रंग और उसकी इतरियत[1] से मदद लेकर, तुम्हारी एक तसवीर खींची। काग़ज़पर नहीं क़ल्ब[2] पर, दमाग़के उस परदेपर जो सिर्फ़ नग़मा व नकहतके नक़्श[3] के लिए मख़सूस है और मैं उसमें महव हो गया तो क्या मैं बता ही दूँ कि मैंने तुम्हारी तहरीरके अन्दर छुपा हुआ तुमको कैसा पाया? मुआफ़ करना, मुमकिन है कोई बात ख़िलाफ़े-हक़ीक़त हो या तुम्हारे ज़ौक़के ख़िलाफ़—लेकिन जब मेरा यह ख़त तुम

---

१. सुगन्ध, २. दिल, ३. राग और सुगन्धके चित्र।

तक पहुँच ही नहीं सकता तो फिर यह अन्देशा क्यों ?

अच्छा तो सुनो अब तुम अपना सरापा[1], कोई पसन्द करे या न करे, लेकिन मुझे तो वह इस क़दर अज़ीज़ है कि अगर तुम वाक़ई वैसी न निकलीं तो मुझे अफ़सोस होगा।

खिलता हुआ साँवला रंग : यानी वह रंग जो कैफ़ियातसे शुरू होता है और कैफ़ियात हो पर ख़त्म, वह जिसे देखकर छूनेको जी चाहे और होंटोंमें बेइख़्तियार कँपकँपी-सी महसूस होने लगे। मुआफ़ करना, मेरे हाथोंने भी तुम्हें छुआ और मेरे होंटोंने भी तुम्हारे लबोंको मस किया जो रेशमकी तरह नरम और पंखड़ीकी तरह नाज़ुक थे। मैंने तुमको नहीफ़ो-नातवाँ[2] पाया, लेकिन अपनी रानाई व कशीदा-क़ामतीके लिहाज़से तुम्हें ऐसा होना ही चाहिए। तुम्हारे बाल बहुत सियाह तो नहीं, लेकिन उनमें एक ख़ास क़िस्मकी चमक ज़रूर है, और थोड़ा-सा घूँघर भी कनपटीके बालोंमें मुझे नज़र आता है। पेशानी बहुत फ़राख़ है और उसमें एक उभरी हुई रग माँग तक चली गयी है। भवें काफ़ी चौड़ी हैं और एक निहायत हलकी अम्बरीं लकीर इन दोनों तलवारोंको एक-दूसरेसे मिला रही है। रंगके बाद सबसे ज़्यादा क़ातिल चीज़ तुम्हारी आँखें हैं। हर वक़्त किसी ख़यालमें डूबी रहनेवाली आँखें जिनको एक बार देख लेना गोया किसी समन्दरमें डूबते चले जाना है। चेहरा कताबी, गरदन खँची हुई, तनासुब एज़ा[3] काटोंपर तुलता हुआ, और चाल ऐसी जैसे कोई नागिन

१. नख-शिख, २. निर्बल, ३. शरीर।

रास्ता काटती हुई सामनेसे गुज़र जाये। उम्र तुम ख़ुद ही बता चुकी हो कि बीससे कम और पन्द्रहसे ज़्यादा है: ग़ालिबन अट्ठारह साल।

यह थी तुम्हारी वह तसवीर जो मैंने तुम्हारे सबसे पहले ख़तको देखकर अपने दिलपर नक़्श की थी और अगर मैं यह सब कुछ पहले ही लिख देता तो शायद तुम उसी वक़्त लिख भेजतीं कि: 'आइन्दा मेरे नाम ख़त न भेजा जाये।'

मैं चाहता था कि तुम मुझसे ज़्यादा बे-तकल्लुफ़ हो जाओ, और मैं तुमको ऐसे लफ़्ज़से ख़िताब[1] कर सकूँ जो तुम्हारी ख़ूबसूरत पेशानीपर हलका-सा नम पैदा कर सके। लेकिन अच्छा हुआ कि इस मंज़िल तक पहुँचनेसे पहले ही यह बिसात उलट दी गयी और तुमने ज़िन्दगीकी उस तल्ख़ हक़ीक़तको जान लिया कि अगर औरत उसके समझनेपर मजबूर न हो तो ख़ुदाईका दावा भी उसके लिए कोई बड़ी चीज़ नहीं।

हरचन्द मैं तुमको दुनियामें आज़ाद, इनसानी दस्तरस[2] से दूर, किसी आस्मानी देवीकी तरह बलन्द देखना चाहता था; लेकिन मेरी यह तमन्ना पूरी न हुई और तुम्हारी ज़िन्दगीका वह दौर जब तुम्हारा जिस्म तुम्हारी रूहके अन्दर महवे-ख़्वाब[3] था जल्द ख़त्म हो गया।

फिर, बताओ कि अब तुम क्या करोगी। मगर मैं यह क्यों पूछ रहा हूँ? मुझे क्या हक़ हासिल है? और अगर तुम कुछ कहना भी चाहोगी तो कैसे कहोगी, और

---

१. सम्बोधित, २. आदमीकी पहुँच, ३. सोया हुआ।

अगर कहोगी भी तो कलेजेपर कौन हाथ रखेगा ?

तुम्हारे इस छह सुफ़्हेकी दास्तानमें सबसे ज़्यादा तड़पा देनेवाली बात यह थी कि तुम्हारे जिस्मके साथ तुम्हारी रूहका सौदा नहीं हो सका। यक़ीन जानो यह सुनकर मुझे बहुत दुःख हुआ और देर तक सोचता रहा कि तुम किस क़दर घबरा रही होगी। लेकिन मैं तो अब तस्कीनके अलफ़ाज़ भी तुम तक नहीं पहुँचा सकता, क्या करूँ मजबूर हूँ। अच्छा तो लो अब मैं भी अपनी तस्कीनकी चीज़ें तुमसे जुदा किये देता हूँ और तुम्हारी तमाम तहरीरें जिनको मैंने इस वक़्त तक हरज़े जाँ[1] बनाकर रखा था नज़रे-आतिश[2] किये देता हूँ। ए इज़्ज़तो-शराफ़तकी देवी! मेरी यह क़ुर्बानी क़ुबूल कर ले!''

'नियाज़'की यह महत्ता थी जो नियाज़ने 'उनके' तमाम पत्र उनकी शादीसे पहले अग्निकी भेंट कर दिये जब 'उन्होंने' लिखा कि अब पत्र-व्यवहार मुनासिब नहीं। और ज़ाहिर है इज़्ज़तो-शराफ़तकी देवीने नियाज़की यह भेंट स्वीकार कर ली होगी। लेकिन इस स्थानपर मैं आपको ज़रा पहले ले आया : आइए ज़रा मुड़कर देख लें :

''क्यों साहब!

गिला है हम से कि तुम ज़ब्ते गिर्या कर न सके
हँसी जब आ गयी तुमको कब इख़्तियार रहा

इससे ज़्यादा बेकसी और क्या हो सकती है कि जब 'ज़ब्त न हो सकने'का सवाल पैदा होता है तो मैं अपने गिर्या[3] के मुक़ाबलेमें आपकी 'हँसी'का हवाला देनेके सिवा और कुछ नहीं कह सकता। मुमकिन है दुनिया इसको सिर्फ़ खेल समझे,

---

१. जानसे प्यारा, २. आगकी भेंट, ३. रोना।

लेकिन जानता हूँ कि इस कॉमेडीमें कैसी ट्रेजेडी पिन्हाँ है। आपके लिए नहीं, मेरे और उन सबके लिए जो मुहब्बतमें रोनेके सिवा कुछ नहीं कर सकते।

आपसे न इससे पहले मैंने कभी कोई शिकायत की, और न अब इसकी जुर्अत कर सकता हूँ। लेकिन इसके यह मानी तो नहीं कि आपके तर्ज़-अमलकी झूठी तावीलें करके दिलको तसल्लियाँ देनेका भी मुझे हक़ हासिल नहीं—उफ़ !

न ख़ौफ़े आह बुतों को न डर है नालों का
बड़ा कलेजा है इन दिल दुखानेवालों का"

"क्या बताऊँ किस आलममें हूँ! सादगीकी भी हद हो गयी—

मैं उसे देखूँ भला कब मुझसे देखा जाये है

किस क़दर जी चाहता है वह सब कुछ कह दूँ जो आप पूछती हैं; लेकिन डरता हूँ कि कहीं ज़बानसे कोई ऐसी बात न निकल जाये जिसे आप सुनना तो चाहती हैं लेकिन कहनेकी इजाज़त नहीं दे सकतीं।

'लैला अख़लीला' अरबकी मशहूर शाइरा थी और ख़ूबसूरत भी बहुत थी। एक शाइरको इससे मुहब्बत हो गयी। लेकिन अरबमें उसीसे शादी नहीं हो सकती थी जिससे मुहब्बत हो जाये। इसलिए वह दीवाना-वार मारा-मारा फिरता और अपना बयाने-महजूरी अशआरके ज़रियेसे उस तक पहुँचाता रहता। एक बार उसने चन्द अशआर लिखकर अपनी महबूबाके पास भेजे जिनका मफ़-

हूम[1] यह था कि : 'तुमसे शादी मुमकिन नहीं लेकिन वस्ल[2] बहरहाल मुमकिन है। फिर एक मुमकिन बातको छोड़कर नामुमकिन बातकी कोशिश क्यों की जाये ?'

उसने जवाब दिया : 'अफ़सोस है कि तुम्हारी आरज़ू जो मुझे वाक़ई बहुत अज़ीज़ है, कभी पूरी नहीं कर सकती'

इस वक़्त मुझे यह वाक़िया क्यों याद आ गया ? ठहर जाइए, ज़रा होशमें आ लूँ तो कहूँ !"

"मुहतरमा ! अश्आर मिले और तमाम उन दर्द-सामानियोंके साथ जो वक़ौल आपकी ज़िन्दगीका सहारा, लेकिन मेरे नज़दीक मौतका कुफ़्फ़ारा हैं। आपको मालूम नहीं 'मौजे-कौसरो-तसनीम'के लिए दुनियाने कितनी बार मुझसे मुतालबा किया और मैंने हमेशा यह कहकर टाल दिया कि देखा जायेगा। मैं किसीसे यह भी तो नहीं कह सकता कि आप कौन हैं और क्यों अपने कलामकी इशाअत[3] गवारा नहीं फ़रमातीं।

आपका यह शेर :

बाँसरी बज रही थी दूर कहीं
रात किस दर्जा याद आये तुम

अबतक दमाग़में घूम रहा है, अब आपने दूसरी सदाए-दर्दनाकसे तड़पा दिया है—मआज़ अल्लाह !

किसने मुझको पुकारा सहरा में
हाये ! आयी किधर से यह आवाज़

जंगलके सन्नाटेमें किसी आशिक़े-आवाराका यह महसूस

१. अर्थ, २. मिलन, ३. प्रकाशन।

करना कि कोई उसे पुकार रहा है ऐसी मुकम्मल तसवीर है इन्तहाये वहशतो-उल्फ़तकी कि इससे ज़्यादा मुमकिन नहीं।

दश्त को छोड़ के मैं उस की गली में पहुँची;
क्या कहूँ, मुझसे तो वाँ और भी ठहरा न गया।

मेरी हलाकतके लिए यही शेर क्या कम था कि आपने मक़ता कहकर और क़यामत कर दी :

हम भी जा पहुँचे थे यह देखने कैसी है नसीम
हाल उस ग़म-ज़दा का हम से तो देखा न गया

यक़ीन कीजिए, आपसे मिलने और आपकी दास्ताने ग़म सुननेके बाद भी मुझपर इतना असर नहीं हुआ जितना आपके कलामसे होता है। शायद इसलिए कि जो निगाह आइनेसे उचटकर आती है ज़्यादा क़ातिल होती है।

आप कबतक लखनऊ आयेंगी, ग़ालिबन मुहर्रममें ? 'हाँ' 'नहीं' दोनों सूरतोंमें आपका सुकूत ही मुनासिब है। मेरा लुत्फ़े-इन्तज़ार आप क्यों ग़ारत करें।"

और इस प्रतीक्षाका आनन्द है भी बड़ी चीज़। लेकिन मन कभी इसके विपरीत भी जाने लगता है कि जब उधर चुप साध ली जाती है तो इधर अँधेरेके सिवा कुछ और दिखाई नहीं देता :

"आपने देखा होगा कि जब कभी कोई रौशन सितारा टूटकर ग़ायब हो जाता है तो आँखोंके सामने थोड़ी देरके लिए अजीब क़िस्मका अँधेरा छा जाता है। बिलकुल यही हालत आपकी 'पुरशिशे गाह गाह'[1] से होती है। जिस वक़्त आपका ख़त आता है तो सारी दुनिया मुझसे रौशन

१. कभी-कभी पूछना।

नज़र आने लगती है, और जब आप सुकूत इख़तियार कर लेती हैं तो ऐसा महसूस होता है कि कायनातमें अँधेरेके सिवा कुछ नहीं। आजकल, मैं इसी एहसाससे गुज़र रहा हूँ और सिवा तारीकीके मुझे कुछ नज़र नहीं आता। मैं इस दौरानमें रामपुर गया तो मालूम हुआ कि आप बम्बईमें हैं। ख़याल किया कि बम्बई पहुँचूँ लेकिन डरा कि वहाँ पहुँचकर कहीं यह न मालूम हो कि आप बम्बईसे मक्का चली गयीं, फिर मैं क्या करूँगा ?

आजकल आप कहाँ हैं, कुछ ख़बर नहीं, इसलिए रामपुरके ही पतेसे ख़त लिख रहा हूँ। और इससे ज़्यादा कुछ नहीं चाहता कि कभी-कभी आपके हाथकी तहरीर निगाहसे गुज़रती रहे। इससे कुछ और फ़ाइदा हो या न हो, लेकिन यह क्या कम है कि :

दिल में नज़र आती तो है इक बूँद लहू की !"

दिलमें लहूकी बूँद नज़र आना वास्तवमें कुछ कम नहीं लेकिन गुज़रे दिनोंकी यादोंसे रंग-रूप लेकर अपने जीवनको कुछ और रंगीन बना लेना तो 'नियाज़' का ही हिस्सा है :

"शिकायतनामाका इतना प्यारा जवाब ! गिलाए-मुहब्बतपर यह शर्म व हिजाब ! क्यामत है क्यामत !

तग़ाफ़ुल के गिले सुनकर झुका लीं तुमने क्यों आँखें
मेरे शरमिन्दा करने को ज़रा बेबाक होना था।

मैं आपकी मजबूरियोंसे वाक़िफ़ हूँ, लेकिन यह भी जानता हूँ कि बग़ैर क़स्द व इरादेके आप किस ख़ूबीके साथ लोगों-का दिल दुखा सकती हैं। फिर आप वह उज्र क्यों पेश करें जो बावजूद सही होनेके दर्दे-दिलका मदावा नहीं हो सकता ?

आप यहाँसे दिल्ली तशरीफ़ ले गयीं और मुझे कोई इत्तला नहीं दी। वहाँसे अलीगढ़ आयीं और मुझे बेख़बर रखा। फिर मुरादाबाद, देहरादून और .खुदा जाने कहाँ-कहाँ पहुँचीं और मुझको कोई इल्म नहीं। यहाँतक कि आपके पैरोंमें ज़ंजीर पड़ गयी और अब आपको होश आया कि कोई 'नामुरादाना ज़ीस्त करनेवाला'[1] लखनऊमें भी रहता है!

मैंने अर्ज़ किया कि: 'ज़रा तफ़सीलसे काम लीजिए।' आपने उसके जवाबमें सिर्फ़ एक 'आह सर्द' से काम लिया और ख़ामोश हो रहीं। यों तो बज़ाहिर इस तमाम दास्तानमें कोई बात ऐसी न थी जो दुनियाके लिए अजीब व ग़रीब होती लेकिन मेरे लिए अब क्या बताऊँ, यह क्या था:

हज़ार ध्यानको टाला ख़्याल आ ही गया

आपको शायद याद न होगा, लेकिन मैं वह साअत[2] कभी नहीं भूल सकता जब आप मेरे सामने निगाह झुकाये एक फूलसे खेल रहीं थीं और मैं .खुश था कि आज मैंने अपना दिल 'ख़ूँ किया हुआ देखा, गुम किया हुआ पाया।' फिर क्या हुआ, इसका मुझे भी होश नहीं....।"

होश आना भी नहीं चाहिए, वरना भावनाओंकी धारा तो कुछ और ही मोड़ ले लेगी:

"बहरहाल, जब कि शौक़ वह इज्तनाब[3] की तमाम मंज़िलें ख़त्म होकर हम आप दोनों फिर अजनबी हो चुके हैं, ज़ख़्मोंको ताज़ा करना मुनासिब नहीं।

---

१. नामुराद ज़िन्दगी बितानेवाला, २. क्षण, ३. शौक़ और घृणा।

यह सब दुरुस्त कि तुम बुत भी हो ख़ुदा भी हो
मगर नयाज़ के क़ाबिल यह दिल रहा भी हो

मैं तीन और चार फ़रवरीको रामपुरमें था, आपका ख़त वापसीपर मिला। पहले मिल जाता तो शायद आपसे क़रीबतर होनेका एहसास मुझे हाज़िरीपर मजबूर कर देता। लेकिन अब मुमकिन नहीं। ख़ुदा हाफ़िज़ !

बना चला राख का ढेर मैं बुझा चला दिल को लेकिन
बहुत दिनों तक दबी-दबायी यह आग-ए-कारवाँ रहेगी।"

अहमदशाह बुखारी 'पतरस'

# 'पत्‌रस'

'नैरंगेख़याल' या 'कारवाँ'में कोई लेख छपा और धूम मच गयी ।

गवर्नमेण्ट कॉलेजमें लतीफ़ा हुआ और पुस्तकोंकी तरह चल निकला ।

बॉडकास्टिङ् हॉउस दिल्लीके आइवरी टावरमें अँगरेज़ीकी किसी नयी पुस्तकपर आलोचनाका एक वाक्य, और एसेम्बली चैम्बर प्रशंसाके शोरमें डूब-डूब गया ।

युनाइटेड नेशन्समें एक भाषण, और अँगरेज़ीके बड़े-बड़े वक्ता चकित होकर दम साध गये ।

'स्टीवेन्सन' और 'गाल्सवर्दी' का अनुवाद, 'इस्मत चुग़ताई'की कलाकी समीक्षा, 'नूनमीम राशिद'के नाम ख़त—और लेखका एक छोटा-सा संग्रह यह सब पत्‌रसकी व्यक्तित्वके विभिन्न रूप हैं । किन्तु मुझे इस व्यक्तित्वसे क्या लेना । मैं तो आपको पत्‌रसके पत्र सुनाने बैठा हूँ । अब अगर इन पत्रोंसे ही किसीका व्यक्तित्व झाँकने लग जाये तो मैं कौन होता हूँ उसे छिपानेवाला । ख़ैर, लीजिए बिना किसी ओर-छोरके ही आरम्भ किये दे रहा हूँ । ज़रूरत पड़ी तो कहीं सिरा भी पकड़ा ही दूँगा आपको—तो सुनिए :

**"जनाब चुग़ताई साहब,**

**सलाम मसनून,**

**ग्रामीनामा मिला । भाई आपको ऐसे सवालात पूछनेकी ज़रूरत ही क्यों पेश आयी ? जबतक मैं यहाँ हूँ आप यह समझिए कि गोया आप ख़ुद यहाँ हैं । जो ख़िद-**

मत मेरे लाइक़ हो आप बिला तअम्मुल[1] फ़रमा दिया कीजिए। मुसव्वदा[2] ज़रूर भेजिए। कमसे-कम देख तो लूँ। इस मुल्कमें किसी भी मुसव्वदेको चाहे वह किताबका हो, या फ़िल्म, रेडियो या टेलिवीज़नका—मंज़िल तक पहुँचाना शादी-ब्याह या योरोपके हमलेके इन्तज़ामातसे कम नहीं होता। हज़ारों मिडिल मेन मश्शातगी[3] के रास्ते रोके बैठे रहते हैं। जहाँ करोड़ोंका हेर-फेर हो और हर दंगलमें लाखों छोटे-बड़े पहलवान ज़ोर-आज़माई कर रहे हों वहाँ इल्मो-फ़न[4], इल्मो-फ़न नहीं महज़ बिज़्नस बन जाता है और बिज़्नस ही के तरीक़ोंपर चलता है। फिर भी आपकी तजवीज़[5]-से दमाग़को गुदगुदी हुई। फ़िल्मका मर्कज़[6] न्यूयार्क नहीं, कैलिफ़ोर्निया है। लेकिन आप मुसव्वदे तो भेजिए, आँखें तो उससे रौशन हों। उसके बाद कारीगर लोगोंसे मश्वरा करूँगा और ऊँच-नीचसे आपको आगाह करता रहूँगा।

लाहौरका क़याम बहुत मुख़्तसर था। जहाँ बरसों तक शबाब रंगीन किया हो और बुढ़ापेको भी शबाब बनाया हो, वहाँ दिलकी प्यास हफ़्ते-अशरे[7] में क्या बुझती। लेकिन क़िस्मतपर नाज़ाँ हूँ कि दोस्तोंकी सुहबतमें मुसर्रत बल्कि नशेकी चन्द घड़ियाँ तो गुज़ार लीं। आपसे सालहा-साल दिलका सौदा रहा है। आपकी मुहब्बत और अख़्लास बरसोंसे ज़िन्दगीका जुज़्[8] थीं और हैं। अल्हम दुलिल्लाह, कि आपसे मिल लिया और आपकी मुहब्बत और आपके

---

१. बिना संकोच, २. पाण्डुलिपि, ३. प्रसाधन, ४. ज्ञान और कला, ५. आयोजन, ६. केन्द्र, ७. सप्ताह, दस दिन, ८. अंश।

करमसे दोबारा फ़ैज़-याब हुआ।[1] वापस आकर इन्तयाज़ साहबसे दो एक चिट्ठियोंका तबादला हुआ, उसके बाद पंजाबमें फ़सादात हुए तो सिलसिला रुक गया। वह मिलें तो उन्हें मेरा सलाम कहिएगा। हाश्मी साहबका भी बहुत मुहब्बत-भरा ख़त मिला, अभी उन्हें जवाब नहीं लिखा उन्हें भी मेरा सलाम पहुँचा दीजिएगा। और किस-किसका ज़िक्र करूँ पूरे गुल्ज़ारको हसरतो-इश्क़का पैग़ाम पहुँचाना हो तो कहाँतक एक-एक फूलका नाम लूँ, जो मिलें उनसे कहिए ग़रीबुल-वतन सलाम कहता है!"

*—अब्दुर रहमान चुग़ताईके नाम*

"आदरे मुह्तरम सलाम मसनून,

ख़त मिला। बीमारीमें आप अक्सर याद आये। जहाँगर्दी[2] सैरो-सैयाहतके लिए ख़ूब है, लेकिन क़ुदरतको कोई ऐसा इन्तज़ाम ज़रूर करना चाहिए कि इनसान बीमार हो तो अपने ही वतनमें और दफ़न हो तो अपनी ही मिट्टीमें। इलाज यहाँसे बेहतर दुनियामें नहीं, लेकिन रूहके ज़ख़्म भरने नहीं पाते। रूहकी मसीहाई दोस्तोंसे ही हो सकती है। आप ख़त जल्दी लिखते तो अच्छा होता। मैं जवाब न दे सकता लेकिन आपकी आवाज़ तो सुन लेता। बहरहाल अब भी आपका ख़त बरकतका मूजिब हुआ।[3] यह आपने ख़ूब पूछा कि बीमारी क्या थी। जो हम-जैसे दिलवाले हैं वह कबतक दिलको सँभाले रहेंगे। इससे पहले तो कोई आसार न थे लेकिन यह पिछला साल

---

१. उदारता पायी, २. दुनिया-भरमें घूमना, ३. विभूतिका कारण बना।

मुझपर बहुत भारी गुज़रा। पाकिस्तानका सफ़र इतना मुख़्तसर था कि उससे जिस्मको कुछ आराम न मिला।

····लीजिए एक और काम आपके करनेका निकल आया। एक पब्लिशरने मुझसे बच्चोंकी एक कहानी माँगी है। यह एक मजमूए[1]में शामिल की जायेगी जिसमें दूसरी सब क़ौमोंके बच्चोंकी कहानियाँ भी शामिल होंगी। कहते हैं, कहानी ऐसी हो जो क़दीम[2] 'फ़ॉकलोर' पर मबनी[3] हो। दस-बारह सालकी उम्रके बच्चोंके लिए मौज़ूँ हो और मुम्किन हो तो ऐसी हो कि उससे सुलह और शान्तिका सबक़ दिया जा सके। यानी वह ठेठ देसी कहानी हो जो बच्चोंके कामकी भी हो और यू० एन० ओ० के मेयार[4] पर भी पूरी उतरे। पहले ख़याल आया इमतियाज़से पूछूँ लेकिन उनसे जल्द जवाबकी उम्मीद नहीं इसी लिए आपकी तरफ़ रुजू करता हूँ। अब्बास भी तो कराचीमें हैं। आप दोनों मिलकर ऐसी कहानीका इन्तख़ाब[5] न कर सकें तो और कौन करेगा। कहानी उर्दूमें भिजवा दीजिए। मैं उसका तर्जुमा यहाँ कर लूँगा।

····जल्द ही एक और ख़त लिखूँगा, प्यास नहीं बुझी।"

*—सालिकके नाम न्यूयार्कसे*

"आदरे मुह्तरम सलाम मसनून,

ग्रामीनामा मिला। मुख़्तसर लेकिन बहरहाल मक्तूब महबूब। दिल सैर न हुआ, आँखें तो रौशन हुईं।

---

१. संग्रह, २. प्राचीन, ३. आधारित, ४. स्तर, ५. संकलन।

····आप और अब्बासका शुक्रिया! यह बच्चोंकी कहानी जिसकी मुझे तलाश है महज़ खैराती काम है। यू० एन० ओ०की बाज़ अधेड़ उम्रकी औरतोंने एक मुसन्निफों[1]-का "गिल्ड" बनाया है। इससे पहले मुख्तलिफ़ इक्वाम[2] के खानोंके तरक़ीबो नुसखे शाया[3] कर चुकी हैं। अब कहानियोंकी तरफ़ मुतवज्जा हुई हैं। बैनुलइक्वामापन, मादरीयत और तसनीफ़[4] तीनों परिन्दोंको एक पत्थरसे मारना चाहती हैं। इमतियाज़को क्या हुआ कभी ख़त लिखनेका नाम नहीं लेते। कई बार मैंने पहल की मगर हर बार थककर बैठ गया। फिर और दोस्तोंकी विसातत[5]से उनको सलामे-शौक़ भेजता रहा। वह भी क़ुबूल न हुआ तो उसे भी तर्क कर दिया। उस बेचारेपर कुछ अजीब बुढ़ापा-सा छा गया। स्टूडियो और घरके आँगनसे बाहर नहीं निकलता। ज़ुबैदाके ख़तसे मालूम हुआ कि हिजाब और यास्मीनको भी टाइफ़ाइड हुआ। ख़ुदा रहम करे। यह ख़बर सुनकर बहुत रंज हुआ लेकिन क्या करूँ इमतियाज़ तक अर्ज़ नियाज़ करनेके सब रास्ते बन्द मालूम होते हैं। कभी आपसे इत्तफ़ाक़-अल्लाह हो तो मेरा सलाम कहिएगा।

चाहता हूँ कोई पब्लिशर हमसे टेक्स्ट-बुक लिखवा ले। उम्र-भर ये काम नहीं किया लेकिन अब यह गुनाह करनेको भी दिल चाहता है। किसीको टटोलकर तो ज़रा देखिए। मैंने हाश्मीसे भी इसका ज़िक्र किया है। आप लोग ख़याल रखें तो मुमकिन है कोई सबील निकल आये।

---

१. लेखकों, २. विभिन्न जातियों, ३. प्रकाशित, ४. अन्तर्राष्ट्रीयता, मातृत्व और सृजन, ५. दोस्तोंके द्वारा।

माना कि इस उम्रमें जब मैं .खुद युनिवर्सिटी वग़ैरामें नहीं, मेरी क़ीमत गिर गयी होगी। फिर भी कोई अक्लका अन्धा न सही गाँठका पूरा मिल जाये तो अजब नहीं।

और बातें भी कहनेकी हैं लेकिन आइन्दा ख़तमें उनका ज़िक्र करूँगा। आपको जब भी ख़त लिखने बैठता हूँ जबरन उसे ख़त्म करता हूँ। वर्ना आशिक़की दास्तान-ए-महबूब ख़त्म कब होती है!"

*— सालिकके नाम न्यूयार्कसे*

साधारण ख़तोंको आशिक़की दास्तान बनानेके लिए तो ग़ालिबका जिगर चाहिए। यह बात पत्‌रसमें कहाँतक थी, मैं अपनी ओरसे कहकर वहसका विषय नहीं बनना चाहता। हाँ इतना ज़रूर है कि पत्‌रसने अपने दोस्तोंको प्रेमिकाओंकी तरह चाहा है और इसीलिए शायद ग़ालिबके बाद कम लेखकोंने इतने मनोरम पत्र लिखे हैं :

"प्यारी एलिस,

सख़्त तअज्जुब है कि तुम मेरा इल्क़ाब[1] सिर्फ़ 'बुख़ारी' लिखती हो, न मिस्टर, न साहब, न प्रोफ़ेसर। तुम औरतें हम मर्दोंके बराबर कबसे हुईं जो यह बे-तकल्लुफ़ी बरतने लगीं। बच्चे बड़ोंके हम्सर कबसे हो गये, कबसे....लेकिन ख़ैर इतना ही काफ़ी है। मैं हमेशासे मुख़्तसर डाँटका क़ाइल हूँ जो शक्कत और क़रीनेसे पिलायी जाये उसका असर ज़्यादा देर तक रहता है। मुझे ज़रा भी शक नहीं कि तुम अभीसे अपने कियेपर नादिम और आइन्दाके लिए मुअद्दब[2] और मुहतात[3] रहनेका अहद[4] कर चुकी हो।

तो प्यारी एलिस, तुम्हारे ख़तसे बड़ी मुसर्रत[5] हुई।

---

१. उपनाम, २. सभ्य, ३. शिष्ट, ४. प्रतिज्ञा, ५. खुशी।

लॉजसे जो ख़त आते हैं उनमें अकसर तुमसे पहले मुलाक़ातका ज़िक्र रहता है। कहीं तुमने मेरी यह बात तो पल्ले नहीं बाँध ली कि मेरे बाद ज़ुबैदाका ख़याल रखना। वह तो यों ही अपनी तश्वीश[१] की तरफ़ इशारा था। और मुझे उम्मीद है तुम उसकी पैरवीमें बहुत वक़्त नहीं गँवा रही हो। बहर सूरत अहले-बुख़ाराके लिए तुम्हारी मुहब्बत-का शुक्र-गुज़ार हूँ। तुम्हारे घरको अकसर एहसान-मन्दीसे याद करता हूँ कि शहरका सबसे रफ़ीक़ गोशा[२] वही है।

बहुत अच्छा हुआ कि तुमने याद कर लिया। जी चाहता था कि कहींसे 'फ़ैज़'घरानेकी ख़बर आये। और मैं जानता था कि वह ख़ुद कभी लिखेगा नहीं — शाइरे-मस्त जो ठहरा — क्यों ? कहींसे सुना था कि उसे जेल भेज रहे हैं जहाँ सादा पानी और नाने-जवीं[३] से उसकी तवाज़ो करेंगे। फिर सुना कि वह अपनी बातसे फिर गये हैं और मेज़बानीकी पेश्कश[४] वापस ले ली है। ठीकसे कह नहीं सकता कि किस बातपर ज़्यादा हँसी आयी। इसपर कि उसे बन्द कर रहे हैं या उसपर कि नहीं कर रहे हैं। दूसरी बातपर ही समझो, अगरचे वह शायद राहे-हक़में काम आना ज़्यादा पसन्द करता। लेकिन मैं और तुम कि लालच-के बन्दे हैं यही चाहेंगे कि वह हमारे पास ही रहे इसके बजाये कि उसे देखनेके लिए हम फ़ॉर्म भरते फिरें। वैसे वह तो तुम्हारे पास है ही। मेरा मतलब है पहलेसे ज़्यादा, अब मैं जो वहाँ नहीं हूँ।

---

१. चिन्ता, २. प्रिय कुंज, ३. जौकी रोटी, ४. आतिथ्यकी योजना।

यहाँ मौसम ख़ुश-गवार है। बाग़में गार्डेना, मैगनोलिया और चेरीके शगूफ़ोंसे आग-सी लग रही है। लेकिन यहाँके लिए तुम्हारा दिल बहुत तरसने लगे तो यह भी सुन लो कि यहाँ ज़िन्दगी वाक़ई कठिन है। मेरी समझमें नहीं आता कि जिन घरवालोंकी आमदनी आठ दस पौण्ड हफ़्तेसे ज़्यादा नहीं वह बसर कैसे करते हैं। खाने-पीनेकी चीज़ें मिलती नहीं और जो मिलती हैं उन्हें पकानेमें ग़ारत कर देते हैं। लोग लापरवाह हो गये हैं। बैरे आपके सामने चीज़ें यों लाके पटकते हैं कि मियाँ लो जी चाहे तो उठाओ नहीं तो हवा खाओ।

आजकल लन्दनमें लंकाशायरवालोंका हुजूम है और शाही जोड़ेकी शादीकी सालगिरहके जुलूस ( हाये कैसी प्यारी लग रही थी! ) पिछले हफ़्ते ग्रोनर स्कवायरमें मिसेज़ रूज़वेल्ट और उनके ख़ाविन्द ( पति ) के मुजस्समेका क़िस्सा था तो यों ही चलता है ये लन्दन शहर।

आजकल थेटरके दिन नहीं लेकिन फिर भी जों-तों शैक्सपियर, 'बर्नर्डशा', 'गोगुल' और 'शॉ ओकेसी' के कुछ खेल देख लिये और कुछ उम्दा इतालवी, जर्मन और फ्रांसीसी फ़िल्में कुछ कर्ज़नमें देखीं, कुछ एकैडमी और स्टुडियो वग़ैरामें। अगले दिन मैं 'ऑडिन'से उनकी नज़्में सुनने गया था। 'फ़ैज़'को सलाम भेजा है।

छीमी ( अच्छा भई सलीमा सही ) अकसर याद आती है। उसे मेरा प्यार पहुँचा देना, मेरा मतलब है सचमुच पहुँचा देना और तुम्हारे दूसरे बच्चोंको भी, या शायद एक ही बच्चा है याद नहीं रहता, भई। यहाँसे कोई छोटी-

मोटी चीज़ तुम्हें चाहिए तो लेता आऊँ, कुछ हो तो लिख देना।''

— लन्दनसे '.फ़ैज़'की बीवी 'एलिस'के नाम

''मुह्‌तरमा,

आपके ख़तसे तबीयत भी बहली लेकिन तिश्नगी[1] भी रही। रिसालोंका जो हाल आपने लिखा है वह कमो-बेश वही मालूम होता है जो मेरी जवानीके ज़मानेमें था। लेकिन अदब और फ़न[2] को .ख़ुदाने यह लुहू बख़्शा है कि बावजूद आँखसे टपकनेके रगोंमें दौड़ने-फिरनेसे बाज़ नहीं आता। आपने सुना होगा कि ऐन मैदाने-जंगमें भी फूल उगते हैं। जब शाइरकी ज़िन्दगीका दारो-मदार एक जाहिल और जाबिर बादशाहपर था जब भी उसने ऐसे हीले तराश रखे थे कि मद्‌ह[3] के इलावा कई राहें उसपर खुली थीं। सबसे ज़्यादा कश्मकश तो अमरीका जैसे मुल्कोंमें है जहाँ मण्डीके बग़ैर कोई चीज़ बिक ही नहीं सकती। यहाँ कोई आपसे पूछे कि आप कामयाब शाइर, कामयाब कहानीकार हैं या नाकाम-याब तो मतलब सिर्फ़ यही होता है कि आपने पैसे कमाये या नहीं।

मैं समझता था आपके ख़तसे दोस्तोंका हाल मालूम होगा। नदीम साहब और '.ख़ुदीजा' और आपके शबो-रोज़का कोई नक़शा आपके ख़तमें नज़र आयेगा जो मुलाक़ातका काम दे। कुछ आपके ख़तसे लाहौरकी सैर होगी और उस अज़ीज़ शहरकी ख़ैरियत मालूम होगी। क्या उसके बाग़ोंमें अब भी

---

१. प्यास, २. साहित्य और कला, ३. प्रशंसा।

सुफ़ैदेके ऊँचे-ऊँचे दरख़्त ख़ुश्बूसे लदे खड़े हैं। क्या अम-राइयोंकी गहरी और तारीक हरियाली अब भी उन्नाबी बादलोंके साथ आती है और बरसातमें रुलाती है? आँखें इन सवालोंका जवाब ढूँढ़ती रहीं लेकिन नाकाम रहीं। फिर ख़त लिखनेको मौक़ा हो तो उन मजलिसोंका हाल ज़रूर लिखिए जिनकी याद दिलसे कभी नहीं जाती। न मालूम मुझ ग़रीबका क्या हस्र होगा। दुनियाके हर कोनेमें दिलका एक पारह किसी-न-किसी गलीमें मुर्ग़ बिसमिलकी तरह तड़प रहा है, ये सब टुकड़े कब एक जगह होंगे?

— *न्यूयार्कसे 'हाजरा मसरूर' के नाम*
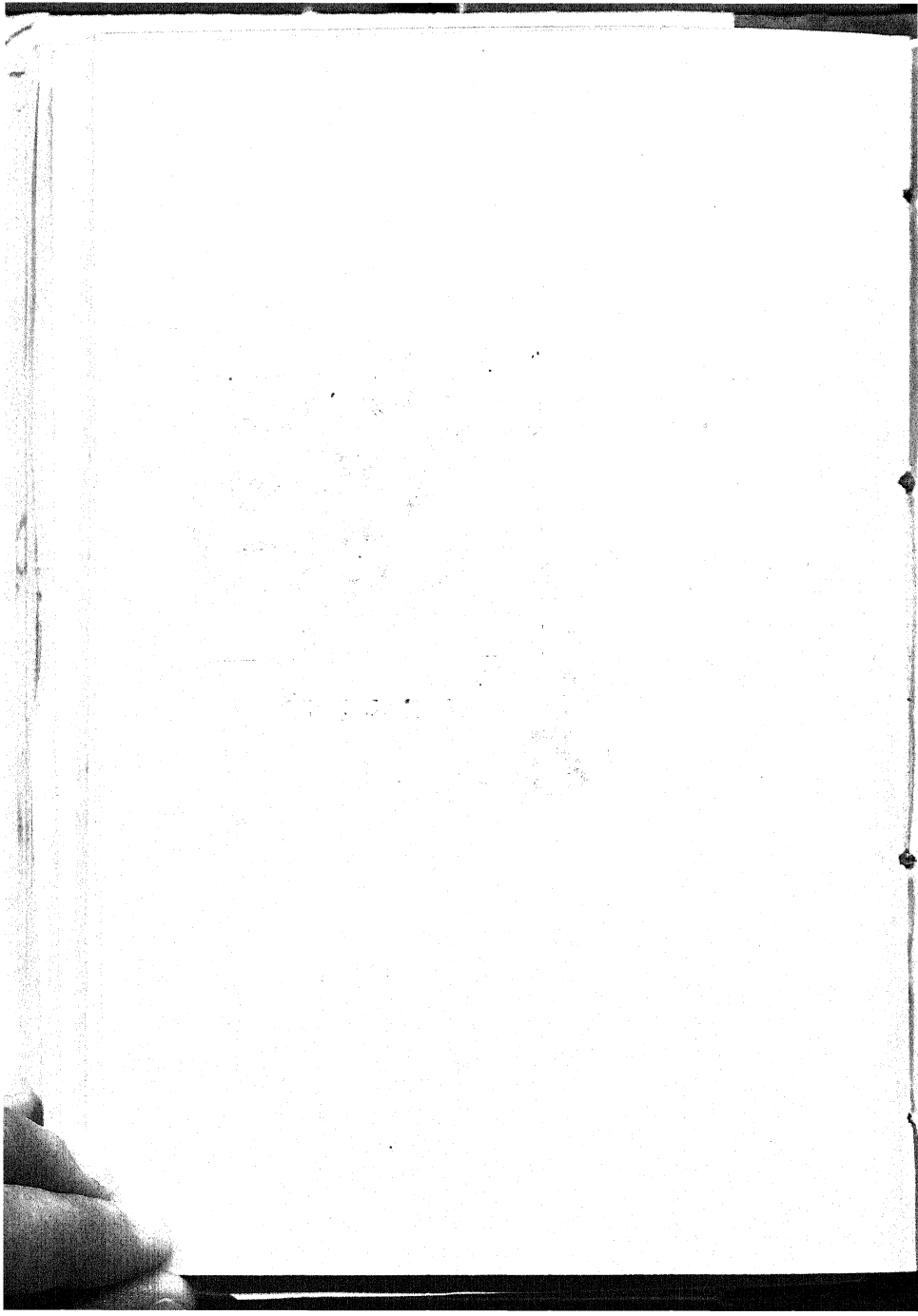
जोश मलीहाबादी

# 'जोश' मलीहाबादी

'जोश' मलीहाबादी, 'शाइरे-इनक़िलाब' और 'शाइरे-आज़म' बनकर लगभग आधी सदीसे उर्दू शाइरीपर छाये हैं। 'जोश' ने अबसे ज़रा पहले-तक कट्टर राष्ट्रप्रेमी बनकर राष्ट्रीयताके जादू जगाये हैं। अबसे ज़रा पहले, मैंने इसलिए कहा कि पिछले दिनों जब जोशके भारत छोड़कर पाकिस्तान जा बसनेकी अचानक सूचना मिली तो कुछ यूँ लगा कि जैसे राष्ट्रीयताकी पट्टी पढ़ाकर हमें झाँसा दे दिया गया हो। जोशके यूँ पाकिस्तान सिधारने-से जिन दो जनोंको चोट पहुँची वह थे उर्दूवाले और दूसरे भारतके मुसल-मान। जोशकी मजबूरियोंका मुझे ज्ञान नहीं; पर ये तो सभी जानते हैं कि जोशको यहाँ बड़ा आदर-सम्मान प्राप्त था और कौन जाने कल भी जब 'आजकल' से अलग होनेके दिन आते तो उन्हें राज्यसभामें लेकर उनके पूरे परिवारकी ज़िम्मेदारियोंको हम अपने कन्धोंपर न ले लेते।

वैसे हमें ये मान लेनेमें ज़रा भी हिचकिचाहट नहीं कि उर्दू शाइरीमें 'नज़ीर अकबराबादी' के बाद जोशकी ही शाइरी है जिसमें इस धरतीकी सोंधी महक रची-बसी है। और जिसकी शाइरीमें अपनी धरतीके फूल खिले हैं – बेला, चमेली, जूही, केतकी, गुलाब, मोतिया। और उनके अलावा दूर तक बगियाकी लम्बी क़तार; जिसमें आमके पेड़ोंमें बौर आ गये हैं और पूरा वातावरण महक रहा है। ऊपर काली घनघोर घटा घिरी है और नीचे मोर नाच रहे हैं, कोयल कूक रही है, पपीहे बोल रहे हैं, झूले पड़े हुए हैं, किसान कन्धोंपर हल लेकर निकले हैं, कहार नीमके नीचे डोली रखकर गा रहे हैं, बहुओंको ससुरालमें माइकेकी याद सता रही है,

विरहके गीत गाये जा रहे हैं। पानी है कि बरसता जाता है, जी है कि उमड़ा आता है। सन्ध्याके अँधेरे बढ़ते चले आ रहे हैं, दूर तक फैले हुए जंगलोंमें जुगनू चमक रहे हैं और रेल छाती फुलाये उन जंगलोंसे गुज़रती चली जा रही है। और इस पूरे हिन्दुस्तानको उर्दू-साहित्यमें, जोशकी शाइरी अपने कन्धोंपर उठाये खड़ी है।

किन्तु जोशकी शाइरी मेरा विषय तो नहीं। मैं तो शायद ग़लत रास्तेपर जा पड़ा। तो लीजिए :

"मेरे, यानी मुझ बेदीनके दीन्दार महबूब दोस्त मियाँ साहब!

आप असलमें 'मियाँ' ही हैं और 'सादिक़' हैं। लानत हो उस आदमीपर जो आपको बरसों ख़त नहीं लिखता, लेकिन रहमत हो उसपर कि ख़त लिखे या न लिखे, आपको हमेशा याद करता रहता है। अब तो ज़िन्दा अहबाबमें, ज़्यादासे-ज़्यादा दो-चार ही ऐसे, या यूँ समझिए कि दो एक ही ऐसे दोस्त रह गये हैं; जिनकी याद काँटेकी तरह दिलमें चुभा करती है। और उन ज़िद्दियों और ज़ालिमोंमें-से एक आप भी हैं। ऐसे दोस्त किस क़दर मूज़ी[१] होते हैं, आपके दिलको भी इसका अन्दाज़ा होगा।

लोग कहते हैं ख़ुदा दुश्मनके शर[२] से बचाये लेकिन मैं कहता हूँ ख़ुदा दोस्तोंकी ख़ैर[३] से बचाये इसलिए कि दुश्मनकी अदावत कभी इतनी मूज़ी हो ही नहीं सकती, जितनी दोस्तोंकी मुहब्बत होती है।

ज़रा सोचिए तो, जब हम देहलीमें एक साथ थे; वह चन्द दिनोंकी मसर्रत[४] अब कितने ग़मका बाअस[५] बनी हुई

१. दुःखदायी, २. शरारत, बुराई, ३. अच्छाई, ४. ख़ुशी, ५. कारण।

है। काश हम कभी न मिले होते ! काश हम कभी ख़ुश न हुए होते !

गाह-गाह आरास्ता होते हैं जलसे ऐश के;
आँसुओं के साथ बरसों याद आने के लिए।

मियाँ साहब, आप अपनेको क़ैदी और मुझे आज़ाद समझते हैं, इसमें कुछ हक़ीक़त तो ज़रूर है। मगर मियाँ साहब, ग़मकी ज़ंजीरसे किसे छुटकारा है। आपको क्या मालूम कि एक तोला ख़ुशी हासिल करनेके लिए एक मन ख़ून ख़र्च कर देना पड़ता है।

तालिबाने-ऐश से कह दूँ तो उड़ जायें हवास ;
किस क़दर रोया हूँ मैं एक मुसकराने के लिए।

मियाँ साहब, ये है दुनिया और ये है इस दुनियाका निज़ाम।

मानेगा इसे कौन कि होता है तुलू ;
आँसू के उफ़क़ से हर तबस्सुम मेरा।

ज़रा ग़ौर तो कीजिए उस ख़ुदाकी मेहरबानीपर जिसने हर फूलमें काँटेको इस तरह रखा है कि फूल मुरझा जाये और काँटा बाक़ी रहे। और इसके बावस्फ़[१] अपनेको बड़ी बेबाक़ीके साथ रहमान व रहीम[२] कहता रहता है।

मैं इस बार पूरी कोशिश करूँगा कि जाड़ोंमें आपसे मिलने लाहौर आऊँ। और आपसे भी कहना है कि बरसात-में यहाँ आनेकी पूरी कोशिश कीजिए। कहीं 'उसको' इसकी ख़बर न हो जाये वरना वह या तो हमारे हाथ-पाँव या

---

१. अतिरिक्त, २. रहम करनेवाला, दयालु।

रेलोंके तमाम पुल तोड़कर रख देगा और हुक़्क़ा पी-पीकर मुसकरायेगा।

आपके साहबज़ादे कहाँ और क्या कर रहे हैं, आपकी बेगम साहब और बच्चोंका मिज़ाज कैसा है और आप ख़ुद किस हालमें हैं ?

खिड़की खुली हुई है, हवाके गर्म झोंके फूलोंकी ख़ुशबू लिये इस तरह आ रहे हैं, जैसे कोई महबूबका पयाम सुना रहा है :

ए उम्रे-रवाँ की रात, आहिस्ता गुज़र ,
ए नाज़िरे-कायनात, आहिस्ता गुज़र ,
एक शय पे भी जमने नहीं पाती है निगाह ,
ए काफ़िलए-हयात, आहिस्ता गुज़र ।

मेरी लड़किया और बच्चे आपको सलाम कहते हैं।"

*— मियाँ मुहम्मद सादिक़के नाम*

"मेरे महबूब मियाँ साहब, आज फिर लहर आयी आपको ख़त लिखनेकी। आपके बग़ैर देहली कैसी उजड़ी-उजड़ी नज़र आती है। क़ियामत तो ये है कि अब यहाँ आप हैं और न 'वह'।

ज़ुबाँ पे बारे-ख़ुदाया ये किसका नाम आया। हाय क्या वीरानी है !

आप तो वहाँ मज़े कर रहे हैं, रात-दिन नमाज़ें पढ़ते, हर दम वज़ू करते और हर वक़्त लाम्बी-लाम्बी दाढ़ियोंकी छाँवमें चहकते होंगे। इधर हम हैं कि न कोई हबीब है, न महबूबा। शराबके साथ जो आदमी आँसू पीता हो, वह

क्योंकर जी रहा है, ज़रा तसव्वर तो कीजिए।

जी बहुत चाहता है लाहौर आऊँ, आपकी सूरत देखूँ, आपको कलेजेसे लगाऊँ। मगर मोरकी तरह पाँव देखकर शर्मा जाता हूँ। देखिए कब मुलाक़ात होती है, कभी होती भी है या नहीं, कौन कह सकता है।

कमसे-कम अपनी कोई ताज़ा तस्वीर ही भेज दीजिए, उसीसे तस्कीन हासिल करूँगा।

आजकल क्या मशाग़िल हैं? लेकिन आपसे ये पूछना ही बेकार है। वही मुसल्ला[1] होगा, वही वज़ूका लोटा और वही ज़ाहिदाने-ख़ुश्क[2] का मजमा : हाय, आपका-सा प्यारा आदमी और ये साज़ो-सामान!"

*—मियाँ मुहम्मद सादिक़के नाम*

जोशकी राष्ट्रीयताके बारेमें मैं ऊपर कहीं कह आया हूँ। बात १९४४ की है; जब हम स्वतन्त्र नहीं हुए थे। जोश उन दिनों पूनामें थे और उनकी अँगरेज-दुश्मनी अपने पूरे उठानपर थी। अँगरेज़ सरकारसे किसी दोस्तको 'सर' की उपाधि मिलती है। मुहम्मद हबीबुल्ला, जोशको इसकी सूचना देते हुए उन्हें मुबारकबाद देनेके लिए उकसाते हैं। जवाबमें जोश उन्हें लिखते हैं :

> "अज़ीज़म, बड़ा ग़ुस्सा आया ये मालूम करके कि आप इधरसे गुज़रे, लेकिन पूने नहीं ठहरे। जी हाँ, मैं पन्द्रह-बीस दिन तक कहीं बाहर नहीं जा रहा हूँ। अगर इस बार भी ऊपर-ही-ऊपर उड़ जानेकी हरकत की तो मुझसे बुरा कोई न होगा। चलते वक़्त तार दे देना, मैं स्टेशन पहुँच

---

१. नमाज पढ़नेकी चटाई, २. रूखे-सूखे नमाज़ी।

जाऊँगा। आरिफ़ और कुरैशीको भी बग़लमें दबा लाओ तो और भी लुत्फ़ रहे।

मेहदी यारको हरगिज़ नहीं लिखूँगा, उस औंधते ख़रगोशने मेरे ख़तका जवाब हज़म कर लिया है। अब रहो उसे 'सर' के ख़िताबकी मुबारकबाद। सो, इस बेहूदगीकी तुम्हें मुझसे क्योंकर उम्मीद हुई? अँगरेज़ी हुकूमतका ख़िताब उर्दूमें माँकी गालीके बराबर है। उसे माँकी गाली दी गयी है और मैं उसकी मुबारकबाद दूँ; घास तो नहीं खा गये हो तुम?"

जोशने पीने-पिलानेके साथ ही जीवन-भर परिश्रम भी किया है। जभी तो उन्होंने उर्दूके आलोचक डॉक्टर इबादत बरैलवीको लिखा था :

"मैं आजकल ख़ूब काम कर रहा हूँ। आजकल ही पर नहीं, ज़िन्दगीके हर दौरमें यहाँतक कि ज़िन्दगीकी भरी बरसात, यानी जवानीमें भी मैं कभी कामसे ग़ाफ़िल नहीं रहा।

सुबहके चार बजेसे लेकर शाम तक तो किताबों, आलिमोंकी सुहबतों और शेरो-सुख़नकी काहिशोंमें लगा रहता और रातोंको महकते गेसुओं, दमकते मुखड़ों, खनकते साग़रों और थरथराती सारंगियोंमें डूब जाया करता था।

इबादत मियाँ, मेरी रातें ख़ाली-ख़ोली और खोखिली ऐयाशियाँ नहीं होती थीं। बल्कि मैं उन रातोंके बैंकोंमें जिस क़दर वक़्त और रुपया जमा किया करता था, सुबह चार बजे बेदार होते ही, गुज़री हुई रातोंके बैंकोंसे वह सारा वक़्त और रुपया सूदके साथ वसूल करके उस रुपयेको अदबकी तामीरमें लगा दिया करता था।"

समयको साहित्यके निर्माणमें लगानेका जोशको परिणाम भी मिला;

पर इसका उल्लेख कौन करे ! मैं तो आपसे यह कह रहा था कि जोशकी शाइरीमें मनोवृत्तिकी ही आँच नहीं, उनके पत्रोंमें मित्रोंकी चाहतका आवेश भी है, देखिए :

"ख़त आया, दिलकी फाँस निकल गयी। मुझे आप-पर सख़्त ग़ुस्सा था कि इलाहाबादमें मेरी इतनी बुरी हालत देखनेके बावजूद आपने ख़बर न ली। हालाँ कि आपको ख़ैरियत जाननेके लिए हर हफ़्ते ख़त लिखना चाहिए था। आप उलटे मुझसे शिकायत करते हैं।

बहरहाल, यही बहुत है कि आपने ख़त तो लिखा। मैं इलाहाबादसे आकर पूरे चार महीने बीमार रहा और मुझपर क्या-क्या गुज़र गयी इससे मैं ही वाक़िफ़ हूँ।

मेरी आरज़ू है कि जुलाईके दूसरे हफ़्तेमें आप यहाँ आयें, आम खायें और नज़्में सुनायें। ८ जुलाईको मंसूरी जाऊँगा। वापस आते ही लिखूँगा, चले आइएगा बारिश अभीतक नहीं हुई है, जबतक हो जायेगी।"

— *साग़र निज़ामीके नाम*

"हज़रत, आप तो यहाँसे इस तरह दबे पाँव और चुपचुपाते चले गये और फिर वहाँ पहुँचकर ऐसी चुप साध ली कि हज़ारों 'चुपशाह' उसपर क़ुर्बान किये जा सकते हैं।

आगरेके पागलख़ानेके एक नीमबरहना दीवानेने अपने नंगे जिस्मपर बहुत गहरी नज़र डालकर बड़ी ही अफ़सोसनाक संजीदगीके साथ कहा था कि आगरेकी रीत निराली है, पर बाबूजी, हमारे देशमें इतने आदमी नंगे नहीं फिरा करते। सो, आपके बारेमें भी इसी तरह कहा जा सकता

है कि बाबूजी, हमारे देशमें इतने बड़े आदमी यूँ छुपकर भागा नहीं करते।"

*— डॉक्टर इबादत बरैलवीके नाम*

डॉक्टर इबादत बरैलवीको ही जोशने पाकिस्तान पहुँचनेके बाद कभी लिखा था :

"मुझे ताऊन या हैज़ा हो जाये लेकिन कभी ज़ुकाम न हो। इस कम्बख़्तकी ज़दमें तो रग-रगका सत निकल जाता है। और दूसरी बला ये नामुराद गर्मी है। मैं वलायती कुत्तोंसे हज़ार गुना बढ़कर गर्मी मानता हूँ, और इस नामुराद मौसममें सुबहसे शाम तक बौखलाया-सा रहता हूँ।

ख़याल था इस बार मलीहाबाद जाकर आम खा आऊँगा, मगर जेबमें दाम कहाँ कि आम खा आऊँ — इसलिए कराचीमें बैठा ग़म खा रहा हूँ।

आपकी याद अकसर उफ़क़े-दमाग़पर[1] जगमगाती रहती है और बार-बार जी चाहता है कि लाहौर जाकर आपको देख आऊँ। मगर लाहौर जाऊँ तो क्योंकर जाऊँ, एक वह भी ज़माना था कि जैसे ही कहीं जानेका ख़याल पैदा होता था, खटसे वहाँ पहुँच जाया करता था, और अब ये आलम है कि····!"

हाँ साहब, अजब ज़माना आ लगा है। सच पूछिए तो यह समय ही बड़ा भारी है। पर इस ज़माने और समयको आप क्यों रोयें। और फिर यह भी तो नहीं हो सकता कि आप मेरी महफ़िलसे दुखी होकर उठें। सुना है जोश 'यादोंकी बरात' सजाये अपनी आत्म-कथा लिखने निकले हैं।

---

१. दिमागके क्षितिजपर।

भविष्यसे उन्हें कोई आशा नहीं, हाल भी बड़ा बेहाल है; अब जो कुछ है वह गुज़रा हुआ ज़माना ही है उनके लिए। और इतना तो आप भी जानते हैं न कि बरसी हुई घटाएँ भी गरजती-बरसती हैं, और भूली-बिसरी सुहबतें भी गूँजा करती हैं। परन्तु इन गरजती-बरसती घटाओं-को भी जाने दें और यह एक अन्तिम पत्र सुन लें। वह पत्र 'आजकल' कार्यालयसे लिखा गया था; जोश उन दिनों उसके सम्पादक थे :

"लाख-लाख शुकर है कि बारिश शुरू हो चुकी है। पानी लूके मुँहको लूका लगा चुका है। ठण्डी हवाएँ चल रही हैं और काली घटाएँ झूम रही हैं। अरे मज़ा ले ले रसिया नई दुलहनीका, मज़ा ले ले रसिया।

हबीब अहमद साहब किस रंगमें हैं? आदमी बड़ा कल्चर्ड है भाई, अफ़सोस उसकी कोई क़द्र नहीं। मैं तो उसकी मूँछोंपर सैकड़ों ज़ुल्फ़ें क़ुर्बान कर सकता हूँ। ये शख़्स किस मज़ेसे बात करता है। लेहजेमें वह खटका और खनक है कि टनसे बोलती है आवाज़ मगर उस तक मेरा सलाम न पहुँचाना। तुम्हारे ख़तमें उसने मुझे सलाम नहीं लिखाया।

सुना है वह थानवी शौकत अब लाहौरमें नहीं है। या बुद्धू हू, या बुद्धू हू! समझे ये आवाज़ अचानक मेरे दिलसे क्यों आने लगी। अभी-अभी कमरेमें एक मुकम्मल.... दाख़िल हुआ है। अब देखिए क्या-क्या बकवास करेगा। बहुत बड़ा 'बोर' है, बल्कि 'बोरे-आज़म' है साला। अब क्या ख़त लिख सकेंगे। बस क़लम रोकता हूँ। वह ज़ुबान खोलनेपर है। बोल हरामी बोल!"

*—मुहम्मद हबीबुल्लाके नाम*

सैयद सज्जाद जहीर

# सैयद सज्जाद ज़हीर

'जोश' मलीहाबादीने ब्याहकी बहुत सारी बुराइयोंमें एक बुराई यह भी बतायी है कि औरतके बीवी बनते ही उसका सौन्दर्य घटने लगता है और शादीकी छाँवमें, रोमान्सकी चाँदनी हालातकी कड़ी धूपमें बदल जाती है। पर कुछ जोड़े इसके विपरीत भी तो जाते हैं। और उन ही कुछ जोड़ोंमें सैयद सज्जाद ज़हीर और रज़िया सज्जाद ज़हीरका नाम लिया जा सकता है।

सज्जाद ज़हीरके इन पत्रोंमें, जो उन्होंने अपनी बीवी रज़ियाको जेल-की काल-कोठरीसे लिखे हैं वह सब कुछ है जो प्रेमी और प्रेमिकाओंके पत्रोंमें हुआ करता है। इन पत्रोंमें वह हलचल, वह गरमी, वह मिठास और रस है जो जोशके शब्दोंमें ब्याहता जीवनके आँगनमें नहीं, इश्क़की महकती-चहकती बगियामें पाया जाता है।

सज्जाद ज़हीर प्यारसे 'बन्ने' कहलाते हैं; और यहाँ इन पत्रोंमें वह अपनी 'बन्नी' से बातें करते नज़र आ रहे हैं। कहनेको तो ये बातें रहस्यकी हैं, पर आइए हम-आप भी सुन लें और चुपके-चुपके आनन्दित हो लें :

"प्यारी, कल शामको जो आदमी खाना लाया उसने बताया कि तुम चली गयीं। हालाँ कि मुझे ये बात मालूम थी, लेकिन उसको तसदीक़के बाद दिल जैसे सुनसान-सा हो गया। मेरी जान, तुम क्यों गयीं! तुम थीं तो मेरे लिए लखनऊमें रौशनी थी। इस क़ैदख़ानेमें उम्मीदकी महक आ

जाती थी। और अब ये लक़ोदक़ फ़ासिला तुम्हारे और हमारे बीचमें ! लेकिन दिल जैसे और क़रीब हो गये हैं। कौन-सा लम्हा है जब तुम्हारा ख़याल नहीं आता। रात-भर पड़ा-पड़ा सोचता रहा कि अब तुम उनाव पहुँची होंगी। अब कानपुर। अब वहाँसे चली होंगी। अब और आगे, अब और आगे। और आख़िरकार सुबहको देहली। और इस वक़्त नौ बज चुके हैं, तुम अपने घर होंगी। उम्मीद है कि अच्छी तरह हो। लिखो कि कानपुरमें क्या हुआ, फिर देहलीमें डैडी मिल गये और सफ़र कैसा कटा। बर्थ ख़ाली मिल गयी थी, कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई। इन्जक्शन ले लिया या अभी नहीं, ज़रूर ले लेना। डॉक्टरनीको दिखा लेना और इस ज़मानेकी ख़ास-ख़ास हिदायतोंपर पूरी तरह अमल करना।

मम्मीको मेरी तरफ़से आदाब अर्ज़ करना, और कहना कि बराय मेहरबानी तुमको (यानी रज़ियाको) अचार, चटनी, चाट, मिर्चोंवाले कबाब और दीगर मिर्चों और खटाईवाले खाने ( जिन्हें आप चुरा-चुराकर खाया करती हैं ) न खाने दें। क़तई परहेज़ करायें और इन मुआमलोंमें तुम्हारी बात न मानें। देखो ज़रूर कह देना नहीं तो मैं ख़फ़ा हो जाऊँगा।

अब मुझे यहाँ तीन महीनेसे ज़्यादा हो गये हैं। अब तबीयत बिलकुल दब गयी है। कभी-कभी तो वक़्त बिलकुल पहाड़-सा मालूम होता है और काटे नहीं कटता। अगर किताबें न होतीं तो दिमाग़की न मालूम क्या हालत होती।

हमारा जेलका नया साथी जर्मन यहूदी अजब मुर्दा-

दिल इन्सान है। उस जर्मनकी तरह बिलकुल नहीं है जिसे तुमने भी देखा था और जो हर वक्त उबला करता था। ये बेचारा तो एक दिन कहने लगा कि मेरे लिए इस वक्त योरपके मुक़ाबिलेमें हिन्दुस्तानका ये जेल ग़नीमत है। उसे इसी ख़यालसे तस्कीन हो जाती है।

पैरिसके तबाह होनेका मुझे बड़ा ग़म है! आज वहाँ कैसी वीरानी होगी। तबाहीसे तो ख़ैर बच गया। मगर वह बाग़ो-बहार शहर बादिए-ग़रीबाँ हो गया होगा। अजायबख़ाने, कैफ़े, सड़कें, दरिया, पुल सुनसान पड़े होंगे। जर्मन सिपाही होंगे और बूढ़े फ़्रान्सीसी। कहीं ये ख़ूनी तमाशा जल्द ख़त्म हो और सुलह हो भी चुके!

आज तारीख़की एक मोटी-सी किताब ख़त्म की। उसके साथ-साथ दो किताबें और पढ़ रहा हूँ। एक फ़्रान्सीसी-नावेल और एक इक़्तिसादियातकी किताब। इस फ़्रान्सीसी नावेलके मुसन्निफ़को मैं जानता था। ये फ़्रान्सका बहुत बड़ा जदीद शाइर भी है। 'टाइम'में पढ़ा था कि वह फ़ौजमें भरती होकर महाज़पर चला गया। मालूम नहीं बेचारेका क्या हश्र हुआ होगा। स्पेनकी लड़ाईमें मेरे तीन दोस्त मारे-गारे गये जिनमें रालिफ़ फ़ाक्स भी था और अब अगर कभी योरप जाना हुआ तो शायद एक मुलाक़ाती भी न मिले।

देखो आज कैसे ग़मगीन ख़यालात बार-बार हुजूम करके दिलो-दिमाग़को घेरे लेते हैं। ये सब तुम्हारे जानेकी वजहसे हुआ। भई, तुम जिस कामके लिए गयी हो उसे जल्द ख़त्म करके वापस आओ। या क्या मालूम उस वक्त तक मैं ही रिहा होकर तुम्हें लेने आ जाऊँ।"

"बेगम साहब, तुमको अपनी चहल-क़दमी तो बन्द न करनी चाहिए। ज़्यादा नहीं हो सकती तो थोड़ी ही सही। तुम्हारी डॉक्टरनी भी शायद यही सलाह दे। तुमने अपने उस ख़तमें लिखा है कि दसवीं जुलाईके बाद किसी दिन भी विलादत होगी। हालाँ कि पहले अगस्तके दूसरे हफ़्तेका ख़याल था। ये क्या गड़बड़ है भई। क्या अगस्तके बदले जुलाई लिख गयीं ? आजकल तुम कैसी लगती हो ? जैसी यहाँसे जानेके वक़्त थीं या अब और 'बढ़' गयीं। आज-कल तो चौबीसों घण्टे तुम याद आती हो। और अजीब बात ये कि कभी-कभी तो तुम्हारी हँसीकी आवाज़ कानोंमें आने लगती है। मेरी जानसे ज़्यादा प्यारी, तुम घबराना बिलकुल मत और परीशान न होना। अपने माँ-बाप, भाई-बहनोंसे मिलकर ख़ुश रहना। हम दोनों जो इस वक़्त ज़ुदा हैं उसकी मुद्दुत ज़्यादा न होगी। और इस दूरीकी वजहसे तुम दिलमें ऐसी पैवस्त हो गयी हो जैसे जिस्ममें जान या रगोंमें ख़ून। और इसके मानी ये हैं कि जब हम फिर मिलेंगे तो अपनी ज़िन्दगीको पहलेसे कहीं ज़्यादा गहरी, ख़ूबसूरत और दिलावेज़ बना सकेंगे। है ना यही बात ?"

ये यहाँ, वह वहाँ! फिर जीवनको रोचक बनाया कैसे जाये। रज़िया आशाओंके दिन गुज़ार रही हैं। और अब बात पीड़ा तक आ पहुँची है। बन्ने उन्हें दिलासा देते हैं :

"जाने-जहाँ, तुम्हारी तकलीफ़का हाल मालूम करके तश्वीश होती है। मगर फिर ये ख़याल आता है कि ये तो हर औरतको बर्दाश्त ही करनी पड़ती है। अभीतक इन्सानकी अक़्लने इस तकलीफ़पर क़ाबू पानेकी सूरत नहीं

निकाली। ये काफ़ी तअज्जुबकी बात है। बल्कि तहज़ीब और तमद्दुनकी तरक्क़ीके साथ-साथ ये तकलीफ़ और बढ़ ही गयी है। ग़ैर-मुहज़्ज़ब और वहशी क़बायलकी औरतोंको दर्देज़ेह बहुत कम होता है तो बेगम, तुमको जो इतनी परीशानी हो रही है तो उसकी एक वजह ये भी है कि तुम ग्रेजवेट हो और आधी एम० ए० हो। यही ख़ैरियत है कि पूरी एम० ए० नहीं हो, नहीं तो क्या मालूम शायद और ज़्यादा तकलीफ़ होती। ख़ैर जी तुम ज़्यादा परीशान न हो। चन्द रोज़की बात है फिर ये तकलीफ़ ख़ुशीसे बदल जायेगी।

तुम्हारा ये ख़याल ग़लत है कि बरसातमें बच्चा पैदा होना ठीक नहीं है। इसलिए कि हिन्दुस्तानकी एक बड़ी बरगुज़ीदा और दिलचस्प हस्तीकी विलादत इसी मौसममें हुई थी। याद करो कि जब कृष्ण जी पैदा हुए थे तो रातके बारह बजे थे और पानी ज़ोरोंका बरस रहा था, सख़्त तूफ़ानी मौसम था। इसी वजहसे तो उन बेचारेकी जान बच गयी। वरना उनकी माँ पर तो पहरा बैठा दिया गया था। बाक़ी क़िस्सा तो तुम जानती ही हो और अगर न जानती हो तो अपनी अम्माँजानसे पूछना। तुम्हारा बच्चा तो ऐसे तूफ़ानमें पैदा हो रहा है कि जिसकी कोई इन्तहा नहीं। सारी दुनियाकी इमारत डगमगा रही है और उसकी माँ नहीं बल्कि बाप क़ैद है!

आजकल यहाँ एक हिन्दी मास्टर पण्डितजीसे हफ़्तेमें दो मर्तबा हिन्दीका सबक़ लेता हूँ। काफ़ी तेज़ीसे सीख रहा हूँ। और उम्मीद करता हूँ कि जल्दी ही अच्छी हिन्दी जान जाऊँगा। एक डिक्शनरी हिन्दीकी मँगवायी है और

एक माहवार रिसाला 'हंस' जो जेलकी तरफ़से मिलता है, वह भी पढ़ता हूँ ।"

और यहाँ हिन्दी सीखनेका शौक़ यों भी पूरा हो रहा है कि :

"परसों यहाँ आचार्य नरेन्द्रदेवके अलावा एक और साथी हमारे मोहनलाल गौतम भी आ गये । तो गोया अब दो सियासी नज़रबन्द मेरे अलावा यहाँ और हैं । और अब उससे चहल-पहल काफ़ी बढ़ गयी है । सुना जाता है कि एक-दो क़ैदी अभी और हमारी बैरिकमें आनेवाले हैं । फिर तो ये 'ख़ाना' बिलकुल भर जायेगा । मैंने आजकल हिन्दी सीखनेपर ज़्यादा वक़्त सर्फ़ करना शुरू कर दिया है । इसलिए कि आचार्यजीसे बेहतर उस्ताद कभी भी न मिल सकेगा । मौक़ा ग़नीमत है इसलिए पूरा फ़ायदा उठा लूँ । क्या मालूम कबतक ये साथ रहेगा ।

तुम कैसी हो, और नजमा बीबीका क्या हाल है । आज तो ऐसी ठण्ढी हवा चल रही है कि हाथकी उँगलियाँ ठिठुरी जाती हैं । लेकिन आसमान बिलकुल साफ़ है; नीला और धुला हुआ । और धूप बहुत उजली और सफ़्फ़ाफ़ । ख़ूब गर्म कपड़े पहन रखे हैं और इस मौसमसे लुत्फ़ उठा रहा हूँ । हमारे बाग़में अब फ़सलके फूल हर तरहके कुछ-कुछ निकल आये हैं । हफ़्ते, दो हफ़्तेमें तो बाग़ो-बहारका आलम होगा । लेकिन जेलके अन्दरके फूल अपनी दिल-फ़रेबीके साथ कुछ दिलको मग़मूम भी कर देते हैं । और जैसे ये कहते हैं कि "हम तुम दोनों ही कहाँ आकर फँसे !" यहाँ देखनेवाला ही कौन ? बच्चे नहीं हैं कि इन्हें तोड़नेके लिए लपकें और इनसे खेलें । औरतें नहीं कि उनसे अपने बाल और गले सजायें । और मेज़पर अगर मैंने रख

भी लिये, गुलदस्ता बनाकर, तो कहाँ! ऐसी भोंडी काली सुलाखोंदार कोठरीमें निकम्मी-सी चौकोर मेज़पर और फिर अकेले देखकर ख़ुश हो लिये। तुमने कभी महसूस किया है कि अकेलेमें क़ुदरतका हुस्न भी ग़मगीन करता है, जितना ज़्यादा हुस्न होता है उतना ही रंज अपने साथ लाता है। कैसे-कैसे ख़याल हैं जो दिलमें आते हैं। कभी तुम याद आती हो, कभी नजमाके होंठ आँखोंके सामने फिरते हैं। कभी गुज़री हुई ख़ुशियोंका ये लम्हा दिलमें चुटकियाँ लेता है, कभी किसी दूसरी ख़ुशीका ख़याल सताता है।

क्या तुम मुहर्रमकी छुट्टियोंमें यहाँ आओगी। अगर आ सको तो अच्छा ही हो। नजमा बीबीकी ख़ैरियत लिखो। उनका नज़ला बिलकुल अच्छा हो गया या नहीं। और अब उनको दूधके अलावा और भी कुछ देना शुरू किया? मेरी सब यादें तुम्हारी हैं।"

यादें, जो तरह-तरहका रूप धारण किये सामने आती हैं:

"इस वक़्त बड़ी ख़ुश-गवार हवा चल रही है और मैं गर्दन खिड़कीकी तरफ़ मोड़ता हूँ तो आसमानपर वह सितारा चमकता हुआ नज़र आता है जो मैंने एक दफ़ा तुम्हें इलाहाबादमें जमनाके कनारे प दिखाया था। याद है? शायद ज़ुहरा – ख़ूब चमकता हुआ (या ख़ूब चमकती हुई) अभी थोड़ी देरमें चाँदनी भी यहाँसे दिखाई देने लगेगी मगर चाँद दिखाई न देगा! अच्छा ही है, उससे और कोफ़्त होती है और अकेलेपनका एहसास और तेज़ होता है। तुम्हारी याद, तुम्हारी सूरत, तुम्हारी हँसीकी आवाज़, तुम्हारी सब बातें, एक-एक चीज़, हमारे कमरे,

वह सुब्हें, वह शाम और रातें ये सब इतनी साफ़ दिल और दिमाग़पर अपनी परछायीं डाल रही हैं कि मैं दुनियाका नहीं बल्कि आम ख़यालका बाशिन्दा बन गया हूँ। इन सबके साथ एक ऐसा शदीद रूहानी दर्द है जैसे कोई दिलके ना.ज़ुक-तरीन एहसासातको बेदर्दीसे मसल दे, इस दर्दका कोई इलाज समझमें न आये और दर्द बढ़ता ही चला जाये।"

इन दर्दोंसे, वास्तवमें छुटकारा मुमकिन नहीं। किसीके साथ गुज़ारे हुए अच्छे क्षणोंकी यादें कभी-कभी बड़ा सितम ढाती हैं। पर इससे बचा कैसे जाये। ज़ेहन तो बार-बार अतीतके ही ताने-बानेमें उलझा चला जा रहा है:

"रातको जब कभी बादल छट जाते हैं और साफ़ फ़िज़ामें, लाखों तारे आस्मानपर चमक उठते हैं—कोई कम, कोई ज़्यादा तो उस नूरानी झिलमिलाहटमें, इस जादूकी दुनियामें बस मुझे तुम ही नज़र आती हो। मेरा दिल भर आता है, आँखोंमें आँसू छलकने लगते हैं। ऐसी हसीन दुनिया जिसके चप्पे-चप्पेमें मसर्रत, नुमू और तग़ैयुर है जो हमें हर घड़ी दावत देती है कि .ख़ुशीकी बारिशसे सैराब हों, वहाँ क्यों आख़िर तुमको और मुझे इस कम्बख़्त, मनहूस .फ़ुर्क़तका सदमा उठाना पड़ता है, क्यों?

कल रात मैं देर तक पढ़ता रह गया। कोई साढ़े ग्यारह बजेसे तेज़ बारिश शुरू हुई थी। चारों तरफ़ बिलकुल ख़ामोशी थी। सिर्फ़ पानीकी आवाज़ थी। वह अजीब और दिल-फ़रेब आवाज़ जो पानीके बरसनेसे निकलती है। तुमने कभी ग़ौरसे सुनी है। रातको जब सब सोते हों, बिलकुल अँधेरा हो और ज़ोरसे पानी बरसता हो, कौन-सा तिलिस्म

उस आवाज़में होता है। मुझे इलाहाबादकी वह शाम याद आ गयी थी जब तुम बड़ी महवियतके आलममें खड़ी पानी बरसनेका तमाशा देख रही थीं और मैंने पीछेसे आकर तुम्हें अपनी आग़ोशमें समेट लिया था। लेकिन इस यादके आनेसे दिल जैसे ख़ून हो गया। क्योंकि उस शामे-मुहब्बत और इस सामे-ग़रीबाँ में कितना फ़र्क़ था, वहाँ हम कितने क़रीब थे जब तुम्हारी आँखोंमें आँखें डालकर तुम्हारे लबोंको अपने लबोंसे छू सकता था, तुम्हारे दिलकी धड़कन महसूस कर सकता था, तुम्हारे जिस्मकी गर्मी और जज़बातसे सुर्ख़, नमकीन चेहरेको छू सकता था – और यहाँ लोहेके जँगलेको हाथसे ज़ोरसे पकड़कर सिर्फ़ रातके गहरे अँधेरेमें अपनी आँखें गड़ा सकता था, और तुम्हारे ही ख़यालसे इस तारीकीको मनव्वर कर सकता था। लेकिन इस ख़ाबो-ख़यालकी दुनिया कितनी जल्दी टूट जाती है। सन्तरीके पाँवकी खट-खट और उसकी कुंजियोंकी झनझनाहट ये आवाज़ भी हर आधे घण्टेपर यहाँ ज़िन्दगीकी हक़ीक़तको याद दिलाती है कि हम अँगरेज़ो सरकारकी रिआया हैं और एक नामालूम मुद्दत-के लिए नज़रबन्द और मुक़ैयद हैं।"

अँगरेज़ सरकारकी रैयत होनेकी सज़ा हमने किस-किस तरह झेली है, इसका उल्लेख बड़ा कष्टदायक है। यह एक बड़ी कड़वी सचाई है कि अच्छा भला आदमी लोहेकी सलाख़ोंके पीछे बन्द कर दिया गया। किन्तु सचाई तो यह भी है कि हज़ार पहरे बैठानेके बावजूद उस आदमीका ज़ेहन आज़ाद ही रहा। वह जेलकी अँधेरी कोठरी-को किसीकी यादोंसे उजालता रहा।

"मेरी प्यारी, आज दिसम्बरकी दसवीं तारीख़ है, और यहाँ तुमसे दूर अकेलेमें दिल जैसे ख़ून हो रहा है। मालूम

नहीं कब फिर हम और तुम मिलेंगे। यादें भी कितनी तकलीफ़देह हो सकती हैं और सबसे ज़्यादा वह जो सबसे ज़्यादा ख़ुश-गवार होती हैं। आज मुझे अजमेर याद आता है। जब मैंने फूलोंकी लड़ियोंसे ढकी हुई, तुम्हारे चेहरेकी हल्की-सी झलक पहली बार आईनेमें देखी थी। मेरा दिल ख़ुश था, और कुछ-कुछ हैरान भी! सोचता था कि आगे चलकर ये दो ज़िन्दगियाँ कैसे मिलेंगी, क्या करेंगी, कैसे एक साथ बढ़ेंगी। और फिर एक साल बाद, पारसाल, याद है? जब हम तुम जमनामें एक किश्तीमें धीरे-धीरे बहते जा रहे थे, आज दिलो-दिमाग़पर वह नुक़ूश दहकते हुए अंगारे-की तरह जल रहे हैं और सारी हस्ती बस तुम्हें पुकार रही है। लेकिन इस सुनसान वीरानेमें उसे कोई जवाब नहीं मिलता।"

"मेरी जान, जिस दिन तुम्हें ये ख़त मिलेगा, उसी दिन ( १० दिसम्बर ) हमारी शादीकी दूसरी सालगिरह होगी! मुझे याद है पारसाल हम लोग दिन-भरके लिए जमनाकी सैरको गये थे। वह साफ़, शफ़्फ़ाक़ दिन! कैसी अच्छी धूप थी। वह खुली हुई कुशादा फ़जा, चारों तरफ़ हरे-भरे खेत, बीचमें लहराता हुआ चौड़ा दरिया, बन्दूक़के फ़ैरकी बार-बार आवाज़—और उसके बीचमें तुम, जवान और हसीन और तुम्हारी वह लाल सारी! आज मालूम होता है ये चहारदीवारी नहीं है और मैं भी वहीं इलाहाबाद में हूँ। दिल रंजमें भरा है। आख़िर हम साथ क्यों नहीं। इस साल साथ होते तो नन्ही भी होती।

साफ़िया अख़्तर

# 'सफ़िया'

"अख़्तर आओ ! तुम मुझे मरने न दो, मैं मरना नहीं चाहती—अलबत्ता मैं थक बहुत गयी हूँ। साथी आओ ! मैं तुम्हारे ज़ानूपर सर रखकर एक गहरी नींद ले लूँ। फिर तुम्हारा साथ देनेके लिए मैं ज़रूर ही उठ खड़ी हूँगी...."

सफ़ियाका यह अन्तिम पत्र है जो सफ़ियाने अपने मरनेके केवल बीस दिन पहले अपने पति 'जाँनिसार अख़्तर' को लिखा था। परन्तु यह तो कहानीका अन्त है, आरम्भ तो यों होता है :

"अज़ीज़ अख़्तर,

ख़ुश रहो, मुस्कराते रहो !

ख़ैरियत लिखूँ ? या यह कहूँ कि 'इल्म भी है, अमल भी है, ग़म भी'—बहर-कैफ़ ज़िन्दगीको राहपर लानेकी कोशिशमें परेशानी ज़रूरी है। इसलिए ये कहना बेजा न होगा कि इस तरफ़ ख़ैरियत है और चम्बलके उस पारकी ख़ैरियत जाननेकी बेचैनी। न जाने जज़्बातके किस दौरसे गुज़र रहे हो ? ज़िन्दगी कितनी सूनी है और कितनी आबाद। यहाँ अगर तुम्हारे न होनेसे एक भयानक वीरानी का एहसास[1] है तो साथ-ही-साथ तुम्हारे तसव्वुरने[2] दिलके निगारख़ानेका[3] गोशा-गोशा जगमगा रखा है।

---

१. अनुभव, २. ख़याल, ३. चित्र-सदन।

# 'सफ़िया'

"अख़्तर आओ ! तुम मुझे मरने न दो, मैं मरना नहीं चाहती—अलबत्ता मैं थक बहुत गयी हूँ। साथी आओ ! मैं तुम्हारे ज़ानूपर सर रखकर एक गहरी नींद ले लूँ। फिर तुम्हारा साथ देनेके लिए मैं ज़रूर ही उठ खड़ी हूँगी...."

सफ़ियाका यह अन्तिम पत्र है जो सफ़ियाने अपने मरनेके केवल बीस दिन पहले अपने पति 'जाँनिसार अख़्तर' को लिखा था। परन्तु यह तो कहानीका अन्त है, आरम्भ तो यों होता है :

"अज़ीज़ अख़्तर,

ख़ुश रहो, मुस्कराते रहो !

ख़ैरियत लिखूँ ? या यह कहूँ कि 'इल्म भी है, अमल भी है, ग़म भी'—बहर-कैफ़ ज़िन्दगीको राहपर लानेकी कोशिशमें परेशानी ज़रूरी है। इसलिए ये कहना बेजा न होगा कि इस तरफ़ ख़ैरियत है और चम्बलके उस पारकी ख़ैरियत जाननेकी बेचैनी। न जाने जज़्बातके किस दौरसे गुज़र रहे हो ? ज़िन्दगी कितनी सूनी है और कितनी आबाद। यहाँ अगर तुम्हारे न होनेसे एक भयानक वीरानी का एहसास[1] है तो साथ-ही-साथ तुम्हारे तसव्वुरने[2] दिलके निगारख़ानेका[3] गोशा-गोशा जगमगा रखा है।

१. अनुभव, २. ख़याल, ३. चित्र-सदन।

यह एहसास भी मेरे लिए अजब नयापन रखता है। फिर यह दो दिन तो इसी भुलावेमें गुज़ारे हैं कि मिलूँगी और बहुत जल्द मिलूँगी।

कलसे मौसम बड़ा पुर-कैफ़[1] हो गया है, आस्मानपर बदलियाँ मँडला रही हैं, हलकी-हलकी गड़गड़ाहट भी हो जाती है। वक्तके गुज़रनेका एहसास मद्धम-सा हो गया है यह और भी तकलीफ़ देता है। यहाँ तो जी चाहता है कि हर दिन दो तारीखें निकल जाया करें।

दिन-भर कॉलेजकी लड़कियाँ और उस्तानियाँ हल्ला बोलती रहती हैं और आस-भरी नज़रोंसे मुझे देखती हैं जैसे मुझमें कुछ मोती टके हुए नज़र आ ही जायेंगे। फिर मेरी लापरवाही और बद-पोशाकीको नज़र-अन्दाज़ करते हुए यह ज़रूर कह देती हैं कि 'फ़ैश' हो गयी हूँ अगरचे यह भी ग़लत ही होता है क्योंकि सितमज़रीफ़ी यह कि 'ताज़ा' के बजाये 'बासी' हो चुकी हूँ····गवाही देनेपर तैयार होगे या नहीं।

सिगरेटको मेरी दुश्मनीपर मुबारक-बाद कहना। बताओ कि ज़िन्दगीके किन-किन लमहों[2] में मेरे बजाये वह तुम्हारी साथी बनी रहती है ? इस कम्बख़्तने तन्हाइयोंमें ही कब साथ छोड़ा। ज़िन्दगीका दस्तूर क्या है ? मेरा कमरा क्या कहता है ?

तुम्हारी —

सफ़्फ़ो"

---

१. नशेसे भरा हुआ, २. क्षणों,





'स

"अख़्तर अज़ीज़ !

बार-बार जी चाहा कि तुम्हें लिखूँ कि किसी तरह मुझ तक नैनीताल पहुँच जाओ। आगरेसे सीधी गाड़ी काठगोदाम आती है, मगर इस डरसे न लिख सकी कि तुम मंज़ूर न करोगे। यह दिन कैसे तड़प और तरसके गुज़र गये। ज़िन्दगी कैसी खोखली और अधूरी रही। अख़्तर, अगर तुम्हारा जी चाहता है तो तुम दुनियाकी हर भलाईको ठुकराकर मेरे पास आ जाओ। मेरी गोद तुमको पनाह देगी और मैं तुम्हें पाकर दुनियाकी हर राहत पा लूँगी। पैसोंकी ख़ातिर – जो हम तुम दोनों इस बेदर्दीसे उठा दिया करते हैं – ख़ुदको इस तरह हलका न करो, मैं इसकी क़ाइल नहीं।

तुमने मुझे डेढ़ सौ रुपये भेज दिये जब कि तुम्हें तीन सौ ही मिले होंगे। सिर्फ़ डेढ़ सौमें तुम महोना काटोगे। तुमने मेरे साथ और अपने साथ बड़ा ज़ुल्म किया। अख़्तर ! कलसे आज तक मैं पैसे पाकर बहुत ख़ुश और फ़तहमन्द थी। आज मुझे ज़ुर्मका एहसास सता रहा है। मैं इस दरयादिलीसे पैसे ख़र्च करूँ और तुम इतने बड़े शहरमें पैसे गिन-गिनकर ख़र्च करो, यह कहाँकी मुहब्बत है ? दोस्त, मैंने सुबह बावन रुपयेकी शाल, दसकी छतरी, पन्दरहका एक कशमीरी नम्दा और सतरहकी एक मेज़ ख़रीद ली है, शामको तुम्हारा ख़त मिला। अख़्तर ! मुझे इतना न चाहो। मुझे तुम्हारी दीवानी मुहब्बतसे आज डर मालूम हो रहा है। तुम अपनेको मुझे चाहने दो। मुझे तुम्हें चाहनेमें हमेशा राहत मिली है।

मैं अब हर तफ़रीह और हर सैरके वक़्त अपने-आपको मुजरिम महसूस करूँगी। मैं आज ही सामान पुलन्दा करना

शुरू करूँगी और जल्दसे जल्द रवाना होनेकी कोशिश करूँगी। तुम वहाँ तन्हा परेशान होते रहो और मैं ग़म ग़लत करनेकी कोशिश करूँ, यह बर्दाश्तसे बाहर है।

अजब जब्र-सा महसूस होता है अख़्तर ! मैं छोटी-सी नौकरीके सहारे भी तुम तक पहुँच सकूँगी। अगर यह बच्चे न होते तो मैं बग़ैर नौकरीके बहाने भी आ ही जाती।

आओ बहुत-सा प्यार कर लूँ तुम्हें !

तुम्हारी—

सफ्फ़ो"

"अज़ीज़ अख़्तर !

बहुत सारे प्यार और बहुत-सी दुआएँ।

आज दोपहरकी डाकसे तुम्हारे दो ख़त मिले। एक ईदकी सुबहका लिखा हुआ, दूसरा दरख़ास्तसे मुतअल्लिक़।

अख़्तर, बहुत कम ऐसा हुआ है कि मैंने फ़ौरन तुम्हारे कहनेपर अमल न किया हो। इस मर्तबा भी मुझे उसूलन फ़ौरन काम शुरू कर देना चाहिए था। मगर मुझे तुमसे कुछ बातें कर लेनी ज़रूरी मालूम हो रही हैं, इससे पहले कि तुम्हारे इशारेपर कोई क़दम उठाऊँ।

तुम इससे इनकार न करोगे कि 'जादू'[1] छह सालका होनेको आया और 'अवेस'[2] पाँचवाँ साल शुरू कर रहा है। इन दोनोंको अबतक मैंने किस तरह सीनेसे लगा रखा है और इनके लिए हर तरहकी तकलीफ़ मैंने बर्दाश्त कर ली है। मैं बुरी माँ साबित नहीं हुई और वक़्त पड़नेपर मैंने

१-२. सफ़िया अख़्तरके दो बच्चे।

बापके फ़र्ज़ भी पूरे किये हैं। अब, जब कि तुम एक परेशान-कुन हालतमें बम्बईकी अज़ीयत-भरी ज़िन्दगी गुज़ार रहे हो इन दोनोंको तुम्हारे सर पटककर अपना 'कैरीयर' बनाने अमरीका चल पड़ूँ, यह अमलन कहाँतक दुरुस्त होगा और कहाँतक मुम्किन ? मैं अपनी ज़ाती[1] तरक़्क़ी और नामवरीकी ख़ातिर तुम्हारा साथ छोड़के और बच्चोंको महरूम करके कैसे जा सकूँगी ? तुम्हारा जज़्बा दुरुस्त लेकिन मेरी तरफ़से भी तो देखो दोस्त ! तुम अगर दोनों बच्चोंको समेटना भी चाहो तो परेशान हो जाओगे, और ज़्यादा।

फिर साथ ही यह कि तुमसे डेढ़-दो सालके लिए छूट-कर इस तरह देश-विदेश फिरना मेरे लिए 'इमोशनल्ली'[2] नाक़ाबिले अमल-सा है[3]। मेरी जान ! तुम ठहरे शायर, तुम अगर यह कह सकते हो :

'तू कहेगी तो मुहब्बत न करूँगा तुझसे'

तो तुम कवि 'शैली' वाली मुहब्बत भी बरत सकते हो कि 'मुझे नहीं मेरे तसव्वुर[4] को चाहते रहो।' मेरा हाल तुम-से बहुत मुख़्तलिफ़[5] है। मुझे तुम्हारी ज़रूरत है, इसीलिए मुझे तुमसे प्यार है। मैं ऐसी आज़माइशमें कैसे पड़ जाऊँ अपने 'कैरियर'की ख़ातिर ? अख़्तर, अगर तुम मुझसे चौदह बरस भी दूर रहो तो मैं तुम्हारे ही आसरे जिऊँगी, मगर मैं अपने-आपको तुमसे दूर न ले जाऊँगी, दोस्त !

आज तुमने यह कैसी माँग की मेरे साजन, कि मैं इसे पूरा करनेके लिए ख़ुदको अह्ल[6] नहीं पाती। अख़्तर ! मैं

---

१. व्यक्तिगत, २. भावनाकी दृष्टिसे, ३. न करने योग्य है, ४. कल्पना, ५. विभिन्न, ६. समर्थ।

तो तुम्हारे क़दमोंमें ही रहकर यह ज़िन्दगी गुज़ार ले जाऊँ, यही मेरे लिए सब कुछ है। अब मेरे लिए कोई बड़ाई तुमसे अलग होकर नहीं हो सकती, मैं अगर नौकरी कर रही हूँ तो किसी एज़ाज़[1] की ख़ातिर नहीं, अपनी शख़सीयतका वक़ार[2] बढ़ानेके लिए नहीं, बल्कि अपने और तुम्हारे हालातको आसान बनानेके लिए। आज तुम्हारे हालात ठीक हो जायें तो मैं नौकरी छोड़-छाड़कर पूरी तरह अपने-आपको तुम्हारी ख़िदमतके लिए वक़्फ़[3] कर दूँ, फिर भला इस M. Ed. की अहमीयत क्या बाक़ी रह जायेगी ?

यहाँका मौसम बेअन्दाज़ा 'प्रोवोकिङ्' बन गया है रातें ऐसी शीतल और दिन इतने सुहाने कि तुम बम्बईमें बैठकर अन्दाज़ा नहीं कर सकते। पहाड़ियाँ सर्सब्ज़ हो रही हैं और मैदानमें भी हरियाली-ही-हरियाली नज़र आती है : 'तुम होते तो काहेको भटकती ये नज़र !'

आओ अख़्तर ! मुझे अपनेमें जज़्ब कर लो। मैंने बहुत तपस्याएँ की हैं तुमको पा लेनेके लिए। सात बरस बीत रहे हैं कि ज़्यादातर मैं तुमसे अलग ही रही हूँ। मेरी प्यास दिन-ब-दिन बढ़ती ही जा रही है। मैं अब तुमसे बहुत दिनों दूर नहीं रह सकती। अख़्तर, मुझे तुम्हारा साथ चाहिए और तुम हो कि मुझे अपनेसे लाखों मीलकी दूरीपर भेजनेका इरादा रखते हो। तुम्हारी इस शाइराना मुहब्बतसे वाक़ई मैं डरती हूँ। आओ मुझे इस तरह अपने-आपमें छुपा लो कि मेरा वजूद[4] अलग कोई हैसियत ही न रखे। बस

---

१. सम्मान, २. व्यक्तित्वकी गम्भीरता, ३. उत्सर्ग, ४. अस्तित्व।

तुम ही तुम रहो और तुममें मैं भी।

तुम्हारी—
सफ्फ़ो"

सम्भव है कि सफ़ियाके इन पत्रोंको पढ़ते समय 'TIG' ( उपनाम ) और 'सफ़्फ़ो' के, थोड़े अन्तरके साथ, आपको कैदरीन सैन्स्फील्डके पत्रोंकी याद आ जाये। लेकिन मैं अपनी बात कह रहा हूँ कि मैंने तो जब भी सफ़ियाको पढ़ा है मुझे सदा ही हिन्दी शाइरीकी हीरोइनें ही याद आयी हैं :

प्यारे दर्शन दीज्यो आय
तुम बिन रह्यो न जाय

पंथ निहारूँ डगर बहारूँ, ऊ भी मार्ग जोये
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे, तुम मिल्या सुख होये

कागा नयन निकास दूँ पिया पास ले जाये
पहले दरस दिखाय के पाछे लीज्यो खाये

नयन सूख कंकरी भयो, रगें भयीं सब तार
रोम-रोम सुर उठत है, बाजे नाम तिहार

विरह और वियोगमें डूबी हुई यही आवाज़ें हैं जो सफ़ियाके अधरोंपर मचलती रही हैं :

"·····यहाँ मौसम पलटा खा रहा है। जैसे हर चीज़की आशा उसके पा लेनेसे ज़्यादा ख़ूबसूरत हुआ करती है, इसी तरह गरमीके आनेका एहसास गरमियोंसे कहीं ज़्यादा लतीफ़ होता है। अब वसन्त मनेगी और फिर होली

आयेगी। मैंने बसन्ती दुपट्टा कल रंगकर रखा है, इसी इन्तज़ारमें कि तुम आओगे तो ओढ़ लूँगी।"

"अख़्तर,
कैसे हो तुम? क्या करते रहते हो?
तुम्हारी याद दिन-रात मेरी दोस्त है। किसीसे दिलकी बातें भी तो नहीं बतायी जा सकतीं। चाँदनी रातें और शीतल सुबहें तुम्हारे ही तख़ैय्युल[1] में बीत जाती हैं। ज़िन्दगीके इस मरहलेमें ये निरा तख़ैय्युल कभी-कभी बहुत खल-सा जाता है। कँवारपनके कितने साल इसी आसरेपर गुज़ारे थे कि किसीके काँधेपर सर टिकाकर ग़ुरूरसे उसकी आँखोंमें आँखें डालनी हैं। अब तो सपनोंका फल मिलना था, मगर क्या किया जाये दोस्त!....होली भी आ रही है, काश!

रात सपने में आये पिया मोसे खेलन होरी

वाली बात ही पूरी हो सके। मैं तो तुम्हें ख़ाबमें भी देखने-को तरस गयी हूँ अख़्तर! और सच पूछो तो तुम बिन नींद ही नहीं आती तो ख़ाबका सवाल ही क्या।"

"....मनीऑर्डरकी रसीद अगले ख़तमें लिख चुकी हूँ तुम्हें। तुम्हारे भेजे हुए पैसे मुझे किते मालदार बना देते हैं, मेरे ग़ुरूरकी हद नहीं रहती और सुनो, ईदकी तीन दिनकी छुट्टियाँ थीं। कैसा जी चाह उठा कि दो-चार दिनकी छुट्टी और लेकर चल पड़ूँ। डेढ़ दिन तक पलँगपर लेट-लेटकर

---

१. कल्पना।

इस्कीमें सोचीं आख़िर इस कश्मकशका यही हल समझमें आया कि बच्चोंकी राहतके लिए अपनी और तुम्हारी ख़ुशियोंका ख़ून किया जाये और यह तीन दिन यहीं मरकर गुज़ार दिये जायें। आज ईद थी। बच्चोंकी ख़ुशी करनी ही थी, तिसपर न सेवैयाँ पकायीं और न कपड़े बदले। दोपहर-को 'इज़्ज़त' ज़बर्दस्ती अपने घर बुलाकर ले गये, कुछ वक़्त वहाँ गुज़र गया बाक़ी वक़्त जैसे गुज़रा उसका ब्यान तुमसे ही मुम्किन है। 'जादू' और 'अवेस' हंगामे मचाते रहे, मौसम अलग जानलेवा साबित हो रहा है दोस्त, शायद तुम्हारे अब्बाकी लिखी हुई कजरी है :

कैसे दिनन बरखा ऋतु आयी बर नाहीं हमरे श्याम रे

रातें तो बेचैन करके रख देती हैं। काश हवाओंके झोंके इस दरजा बेपनाह न होते!

आओ मुझे अपने सीनेसे लगा लो,

तुम्हारी

—सफ़्फ़ो"

कहनेको तो सफ़िया पहले अख़्तरकी प्रेमिका थीं जो बादमें बीवी बन गयीं और बस! लेकिन सफ़िया 'मजाज़' की बहन भी तो थीं, शाइरीकी ख़ाना-ख़राबीका एहसास इनसे अधिक और किसे होता। और इसीलिए भाई और पतिके बाद बच्चेको भी इस शाइरीके चक्करमें पड़ता देखकर सफ़िया चुप न रह सकीं :

" 'जादू' और 'अवेस' तुम्हारी एक-एक अदा याद करके ख़ुश होते रहते हैं। मोटरकी ख़बर सुनकर अवेस फूले न समाये और जादूकी 'वैनिटी'[1] को इतना सदमा

---

१. अहंकार।

पहुँचा कि फ़ौरन रो पड़े। मिसरेबाज़ी भी जारी रहती है। कल रात अवेस बिस्तरपर ऊधम मचा रहा था और किसी तरह न सोता था। मैंने तंग आकर तख़्तपर बैठे-बैठे कहा, 'सो जाओ मेरे प्यारे' और जादू साहब मसहरीपर लेटे हुए थे वहाँ से छूटते मुँह बोले, 'क्या ठाठ हैं तुम्हारे'। जादू अगर शाइरीके चक्करमें पड़ गया जिसका पूरा इम्कान[1] है तो जान लो कि अपनी सात पुश्तें न पनप सकेंगी, सिवा इसके कि कोई इन्क़लाब ही तबाहीसे बचा ले।"

ख़ुदा करे बच्चोंके प्रति सफ़ियाका सन्देह ग़लत हो। परन्तु सफ़ियाके पत्रोंमें जो शाइरीका सारा रस और स्वाद आ गया है यह प्रेमकी छवियों-का अमर एलबम है।

---

१. सम्भावना।